शिक्षाके नये प्रयोग

और विधान

[योरोप, अमेरिका और भारतके प्रसिद्ध शिक्षाचार्यों और शिक्षा-प्रणालियोंका विशद विवेचनात्मक इतिहास]

लेखक

शिक्षा शास्त्रके आचार्य

साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

एम० ए० (संस्कृत, पाली, हिन्दी, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी० टी०, एल्-एल्० बी०

—०००—

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,

चौक बनारस ।

ज्येष्ठ संवत् २००५ विक्रमीय

[मूल्य ३॥)

यह पुस्तक

जबसे चारों ओर मातृभाषा-द्वारा सब विषयोंके शिक्षण-की पुकार हुई उससे बहुत पहले ही मैंने निश्चय कर लिया था कि शिक्षा-सम्बन्धी सभी आवश्यक पुस्तकें अपनी मातृ-भाषा हिन्दीमें प्रस्तुत कर दूँगा और फलतः मैंने भाषाकी शिक्षा और अध्यापन-कला तो लिखकर प्रकाशित करा डाली किन्तु पाठशाला-प्रबन्ध और शिक्षाका इतिहास कल्पनामें ही रह गया।

गतवर्ष सहसा इन पुस्तकोंकी माँग बढ़ी और यह आव-श्यक समझा गया कि इन पुस्तकोंके प्रकाशनमें विलम्ब न किया जाय। स्थानीय प्रकाशक श्री नन्दकिशोर बन्धुने यह दायित्व अपने ऊपर लेकर पुस्तकके प्रकाशनमें सुविधा कर दी और इस वर्षकी विकराल गर्मीकी अवमानना करते हुए मैंने पाठशाला प्रबन्ध भी समाप्त कर दिया और यह ग्रन्थ भी।

परिचय

इस ग्रन्थमें उन सभी शिक्षा-शास्त्रियों और शिक्षाके प्रयो-गोंका विस्तृत विवरण है जिन्होंने वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली, परीक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम विधान आदि शिक्षाके सभी तत्त्वोंको अपने प्रयोगोंसे प्रभावित किया है। वास्तवमें ये सभी शिक्षा-

शास्त्री इने-गिने ही हैं जिनमें मुख्यतः रूसो, पैस्तालौजी, हरबार्ट, फ्रोबेल, मौन्तेस्सौरी और हेलन पार्खर्स्ट प्रधान हैं किन्तु इनकी शिक्षा-प्रणालियोंको समझनेके लिये उन सभी प्रवृत्तियों, आन्दोलनों और विचारोंका भी क्रमिक अध्ययन आवश्यक है जिनसे इन नवीन प्रयोगोंको प्रेरणा मिली। इसलिये इस ग्रन्थमें विशिष्ट शिक्षा-शास्त्रियों तथा उनके प्रयोगोंके विषयमें विस्तारसे और अन्य ऐतिहासिक प्रकरणोंको संक्षेपमें हमने समझानेका प्रयत्न किया है।

यूरोपके इन प्रभावशाली शिक्षा-शास्त्रियोंके अतिरिक्त अपने देशके उन प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियोंके उद्योगों और प्रयोगोंका भी हमने परिचय दिया है जिन्होंने अपने देशकी प्राचीन शिक्षा परम्पराके साथ नवीन वैज्ञानिक युगका स्वस्थ सामंजस्य करनेका प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त अन्तमें हमने अपनी ओरसे भी भारतकी दशाको ध्यानमें रखते हुए पुरुषों और स्त्रियोंके लिये अलग-अलग पाठ्यक्रमका विधान सुझाया है।

इस ग्रन्थका अधिक श्रेय मेरी प्रियशिष्या किशोरीरमण गर्ल्स इंटर कौलेज, मथुराकी प्राध्यापिका श्री इन्दुमती दे, एम ए, बी, टी, को है जिन्हंने योरोपीय शिक्षा-शास्त्रियोंके सम्बन्धकी कुल सामग्री मेरे लिये एकत्र करके दी है।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणालीको व्यवस्थित करनेमें जिन महापुरुषोंने योग दिया है उनका क्रमिक ऐतिहासिक परिचय प्राप्त करनेमें यह पुस्तक अवश्य सहायक होगी।

इस ग्रन्थमें भारतकी उन सभी नवीन शिक्षा-प्रवृत्तियोंका परिचय देनेका प्रयत्न किया गया है जिन्हें मैंने स्वयं घूम-घूम कर देखी हैं और जिनका मुझे व्यक्तिगत ज्ञान है। इनके अतिरिक्त जो नवीन प्रयोग हुए हों या हो रहे हों उनका परिचय जो सज्जन देंगे उनका कृतज्ञतापूर्ण आभार मानते हुए अगले अंकमें हम उचित परिवर्धन कर देंगे।

गंगा दशहरा
संवत् २००५
काशी।

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

विद्यालयका दैनिक कार्यक्रम—कन्याओंका पाठ्यक्रम—लेडी इरविन कालेज, नई दिल्लीका अत्यंत भ्रांतिपूर्ण शिक्षण क्रम—भारतीय कन्याओंके लिए पूर्ण पाठ्यक्रम और उसकी व्यवस्था।

कृपया अशुद्धियाँ ठीक करके आगे बढ़िए।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१ से २	यह ''जाय	
१६	१५	हैं। सीख लेनेमें	हैं। लिखना-पढ़ना सीखनेसे भाषा, साहित्य, इतिहास भूगोल आदि सीख लेनेमें
२०	१०	शर्त्तें	सिद्धि
२३	४	सीक्रमाका	सक्रमताका
२३	१४	पर्याप्ता	पर्याप्तता
२३	२१	संवद्धत्म	संबद्धता
२६	१	प्राण विज्ञान	प्राणिविज्ञान
२६	१८	रूप	योग
२७	१	तात्त्वविक मीमांसा	तात्त्विक मीमांसा
३४	१०	क्षीणोन	क्षीणोफन
३५	१८	माभ	मात्र
३५	१९	निमय	नियम
३५	२१	मूल	भूल

५०	३	लुकरगरस	लुकरगंस
५३	६	दिद्सकलेडम्	दिद्सकलेडम्
६०	८	नेनियम	ने नियम
६०	१७	श्रोय	श्रेय
६२	८	विवेकर हित	विवेकरहित
		यास्वतः·प्रवृत्ति	या स्वतःप्रवृत्ति
६३	४	श्राए	श्रास
६५	६	कवितविकास	व्यक्तित्वविकास
७३	७	इतालिषा	इतालिया
८१	१	में शास्त्रविभाग	के शास्त्रविभाग
		(श्रट्ंस)	(श्राट्ंस) में
८१	७	श्रध भिषर्ज्ञों	अन्य भिषज्ञों
८५	११	शस्त्रोश्रसे	शस्त्रास्त्रों से
८५	२०	यहकी	यह थी
८८	३	जय विद्यालय	जप विद्यालय
८८	१७	लौटिनके	लैटिनके
९०	१	विक्कोरिनो दफैंत्रे	विक्तोरिनो द फ़ेल्त्रे
९०	७	,,	,,
९०	१०	विक्कोरिनो	विक्तोरिनो
९०	१८	,,	,,
९३	१३	हिरोनीनियनोने	हिरोनियनों
९४	६	वर्जित्र	वर्जिल

९५	१५	शब्दसम	शब्दरूप
१५६	१२	सिलेंट स्पौटिनम	फ़िलैन्थ्रॉपिनम
१६०	१८	,,	,,

इन उपर्युक्त प्रधान अशुद्धियोंके अतिरिक्त पृ० १ से ९६ तक कुछ साधारण छापेकी भूलें रह गई हैं, कृपया उन्हें ठीक कर लीजिएगा।

—***—

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

शिक्षाके नये प्रयोग और विधान

१

वे दिन

संसार जिस समय मनुष्य बननेका प्रयत्न कर रहा था उस समय हमारे पूर्वजोंने देवत्व प्राप्त कर लिया था। जीवनके नैतिक और सामाजिक तत्त्वोंकी मीमांसा कर चुकनेपर उन्होंने आध्यात्मिक और पारलौकिक तत्त्वोंके सूक्ष्मतम रहस्य भी छान डाले। ज्ञान और विज्ञानका ऐसा कोई अङ्ग नहीं बचा जो उनकी सूक्ष्म दृष्टिसे छूट निकला हो। इस संपूर्ण सिद्धिका आधार था हमारा आश्रम-धर्म और ज्यों ज्यों हमारा आश्रम-धर्म शिथिल होता गया, त्यों त्यों हमारी सिद्धियाँ लुप्त होती गईं और भौतिक दारिद्र्यके साथ-साथ हमारा नैतिक और बौद्धिक दारिद्र्य भी बढ़ता गया। जिसने एक दिन यह कहनेका साहस किया था—

"एतत्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवाः" ॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने पृथिवीके सब मानव-समुदायोंको अपना आचरण सिखाया, मानवताकी शिक्षा दी ।]

—वही आज परमुखापेक्षी होकर ज्ञान-विज्ञानकी भिक्षा माँगनेके लिये विदेश दौड़ा जा रहा है और अभीतक भी हमारी ओरसे कोई ऐसे प्रयास नहीं हुए, होनेवाले प्रयासोंको ऐसा प्रोत्साहन नहीं मिला कि अपने स्वर्णमय अतीतकी सफलताओंके मूल रहस्यकी खोज करके हम उसे फिरसे सजीव कर सकें ।

किसी भी देशकी विभूति, चाहे वह आर्थिक हो, सैनिक हो, व्यावसायिक हो या कलासंबंधी हो, उसकी लोक-शिक्षा-पद्धतिपर ही अवलंबित होती है । समाजके नेताओंने समाजके जो नैतिक नियम बांधे हों उनकी पूर्त्ति तभी हो सकती है जब उन नियमोंको सम्मुख रखकर वहांकी शिक्षा व्यवस्थित की गई हो । आदर्श स्थिर करना उतना ही सरल है जितना आदर्शकी पूर्त्तिके लिये कठोर संयम का पालन करना । इस संयममें जहाँ शिथिलता हुई कि आदर्श अपने स्थानपर नहीं टिक सकते, उनका पतन अनिवार्य है, अवश्यम्भावी है ।

वैदिक युगके जिन महर्षियोंने यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः [इस जन्ममें सांसारिक उन्नति और इससे छूटनेपर मुक्तिकी सिद्धि ही वास्तविक धर्म है ।] कहकर धर्मकी व्याख्या की और धर्मके अनुसार आचरण करना ही मानवजीवनका परम लक्ष्य स्थिर किया, वे केवल लक्ष्य

स्थिर करके ही चुप नहीं रह गए। उसकी साधनाके लिये उन्होंने आश्रम-धर्मकी प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार द्विजमात्रको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में अपना जीवन ढालना पड़ा। उसीका परिणाम यह हुआ कि समाजमें विद्याका प्रसार हुआ, कलाकी समुन्नित हुई और नैतिकताकी वृद्धि हुई। ब्रह्मचर्य आश्रमके सब संस्कार उन गुरुकुलोंमें पनपे जहाँ धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं था, सबको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, आचरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था, स्वस्थ प्राकृतिक वातावरणमें सेवा और सहयोगकी भावना पुष्ट की जाती थी, निश्चिन्त होकर अध्ययनाध्यापन होता था, निश्चित अवधिसे अधिक भी छात्र अपना अध्ययन चला सकते थे, गुरुके प्रति आदर और श्रद्धा तथा शिष्यके प्रति वात्सल्य और उदारता थी, और जहाँकी व्यवस्थामें राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। उस शुद्ध, निर्बाध, सात्विक, प्रवुद्ध तथा उदार प्राकृतिक वातावरणमें शिक्षा पाए हुए छात्र पूतेन वचसा, अवदातेन कर्मणा (पवित्र वाणीसे और निष्कलंक कर्मसे) समाजकी नागरिकताको सुशोभित करते थे। उस गुरुकुल-पद्धतिके नष्ट होते ही हमारा समाज गिरते गिरते आजकी दशातक पहुँच गया है जब हम राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेपर भी शुद्ध हृदयसे यह कहनेमें असमर्थ हैं कि हम सच्चे और उपयुक्त नागरिक हैं।

गुरुकुल-प्रणालीकी शिक्षाका अन्तिम ज्ञानदीप नालन्दा

समझा जाता है। आततायी यवनोंके हाथसे जिस दिन उसका निर्वाण हुआ उसके पश्चात् केवल काशी ही एक मात्र ऐसा केन्द्र रह गया जहाँ भारतीय शिक्षाकी गुरुकुल परम्परा तो कम किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा आजतक भी अक्षुण्ण बनी चली आ रही है और आज भी काशी गौरवके साथ कह सकती है कि ब्रह्मदान (विद्यादान) की जिस उदात्त और सात्विक भावनासे प्रेरित होकर वैदिक युगके आचार्य अपने माणवकोंको विद्या पढ़ाते थे उसी संलग्नता और चावसे आजके भी तपः पूत पंडित अपने शिष्योंको विद्याकी ज्योति प्रदान करते हैं। किन्तु इतने विशाल देशमें यह केन्द्र अकेला ही अपनी परिपाटीका निर्वाह कर रहा है और प्रबल लोक-भावना और लोक-रुचिके विरुद्ध भी डटकर गौरवके साथ खड़ा हुआ है।

हर्षके साम्राज्यका पतन आर्य-संस्कृतिके पतनका प्रारंभ समझना चाहिए। उसके पश्चात् राजपूतानेके क्षत्रिय राजाओंने आर्य-मान और आर्य-गौरवकी रक्षाके लिये ऐकान्तिक प्रयास तो अत्यन्त साहसपूर्ण और प्रशंसनीय रूपसे किए किन्तु सामूहिक प्रयास नहीं हो सके और उसका सिद्ध परिणाम यह हुआ कि पश्चिमोत्तर सीमासे आक्रमण करनेवाले दस्यु यवनोंकी वर्द्धमान सैन्य-शक्तिका हम लोग सशक्त होते हुए भी सामना न कर सके। थोड़े ही वर्षोंमें हमारा इतना शक्तिशाली राष्ट्र अपनी मूर्खता और अनेकताके कारण दस्यु यवनोंका दास बन गया और आर्यावर्त्तमें उन यवनोंका शासन प्रारंभ हो गया जिन्होंने सब न्यायान्याययुक्त उपायोंसे हमारे

धर्म, आचार-विचार, भावसंस्कार, भाषा-भेस, कला-साहित्य सभीका धीरे धीरे संहार कर डाला और बलपूर्वक अपने आचार-विचार भाषा-भेस और संस्कार हमारे सिरपर इस प्रकार लादा कि हमने अपनी राजनीतिक विवशतामें इसे ही अपनानेमें कल्याण समझा।

सत्रहवीं शताब्दीसे ही भारतका संबंध योरोपीय प्रदेशोंसे बढ़ चला और बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़ा कि व्यापारके लिये आए हुए ये विदेशी हमारे देशी राजाओंके सँधि-विग्रहमें भी भाग लेने लगे और हम लोगोंकी परम्परागत सज्जनताका अनुचित लाभ उठाकर उन्होंने भारतके प्रदेशोंको भी धीरे धीरे हथियाना प्रारंभ किया। सन् १७५७ के पलासी युद्धसे जो भारतका विदेशीकरण प्रारंभ हुआ वह १८५७ में पूर्ण हो गया और भारतपर पूर्ण रूपसे अङ्गरेजोंका शासन प्रारंभ हो गया। इसके पूर्व ही जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने अपना शासन प्रारंभ किया था तब उसे ऐसे कर्मचारियोंकी आवश्यकता थी जो अङ्गरेज़ी में लिखा-पढ़ी और पत्र-व्यवहार कर सकें अतः उसकी ओरसे कुछ ऐसे विद्यालय खोले गए जहाँ इस प्रकारसे अङ्गरेज़ीकी शिक्षा दी जाती थी कि वहाँसे निकले हुए छात्र योग्यतापूर्वक ईस्ट इण्डिया कम्पनीके व्यापारमें सहायक हो सकें और भारतीय व्यवसायका गला घोटकर, उसकी हत्या करके भी ईस्ट इण्डिया कम्पनीका धनकोष भरते चलें। इसीके साथ साथ पुर्त्तगाल हौलैंड, और इङ्गलिस्तानकी ईसाई संस्थाओंने भी अपनी ओरसे कुछ विद्यालय

खुलवा दिए थे जिनका उद्देश्य यह था कि विद्याका प्रलोभन देकर जनताको ईसाई बना लिया जाय। दोनों प्रवृत्तियोंके पीछे शिक्षाके सार्वभौम सिद्धान्तोंका आधार नहीं था। वे तो केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये शिक्षाका आडम्बर खड़ा किए हुए थे। उनकी व्यवस्था भी अङ्गरेज़ी या योरोपीय ढंगपर थी जहाँ योरोपीय वेश-भूषा, भाषा और आचारके अवलम्बसे छात्रोंको शिक्षा दी जाती थी। कुछ अङ्गरेज़ी-प्रिय भारतीयोंने भी अच्छी नौकरियोंके लोभसे विद्यालय खोले किन्तु उनमें भी विद्यादान करनेकी प्रवृत्ति न होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनीके लिये योग्य सेवक उत्पादन करनेकी ही भावना थी।

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंने एक लाख रुपया वार्षिककी स्वीकृति देकर यह घोषणा की कि इसके द्वारा भारतीय विज्ञान और साहित्यकी अभिवृद्धि की जाय और भारतीय विद्वानोंको विद्वद्वृत्ति दी जाय तो अङ्गरेज़ीवादी और प्राच्यवादियोंमें इस बातपर बड़ा संघर्ष चला कि इस द्रव्य का व्यय किस प्रकार किया जाय। अन्तमें मैकॉलेको पंच बनाकर यह विवाद सौंप दिया और उसने जो विषाक्त निर्णय दिया उसके फलस्वरूप जो निन्द्य शिक्षा-नीति निर्धारित हुई उसका कुफल आजतक भारतको भोगना पड़ रहा है। मैकौलेने जो निर्णय दिया उसमें पहले तो उसने जी भरकर भारतीय साहित्य, संस्कृति और विज्ञानको कोसकर अपनी अल्पज्ञताका परिचय दिया और अन्तमें लिखा कि हमारा उद्देश्य यह है कि भारतके लोग रंगमें तो

भारतीय रहें किन्तु आचारविचार, रहन-सहन, बोलचाल, खान-पान, भाव-संस्कार सब बातोंमें अङ्गरेज़ बन जायँ। धीरे धीरे लोग अङ्गरेज़ बनने भी लगे। इसी बीच सन् १८५७ में हमारी स्वतंत्रताका युद्ध भी सम्राट् बहादुरशाहके नेतृत्वमें प्रारंभ हुआ जिसमें झाँसीकी महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या जैसे महावीरोंने अपना महात्याग किया और यद्यपि स्वयं हमारे ही अनेक बन्धुओंने विदेशियोंका साथ देकर हमारी स्वाधीनताके इस युद्धको विफल बनाया किन्तु उसने ऐसी भयंकर विरक्ति उत्पन्न कर दी कि वह महारानी विक्टोरियाके शान्त शासनमें भी ठंडी न पड़ सकी।

सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरों ने शिक्षा का नया महाविधान बनाकर भेजा जिसके अनुसार प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षाकी व्यवस्थाके साथ तीन विश्वविद्यालयों की, अध्यापकोंके शिक्षणके लिये शिक्षण संस्थाओंकी, लोक-संचालित संस्थाओंको आर्थिक सहायताकी, संस्कृत, फारसी के देशी विद्यालयोंको सहायताकी तथा मेधावी छात्रोंको छात्र-वृत्ति देनेकी भी व्यवस्था की गई और अङ्गरेज़ी शिक्षा अपने पूरे रूपकके साथ जमकर बैठ गई। किन्तु इस शिक्षा-प्रणालीसे पढ़े हुए जितने युवक निकल रहे थे उनकी व्यापक प्रवृत्ति यह रहती थी कि वे भारतीय और भारतीयतासे अत्यन्त क्षुब्ध और असंतुष्ट दिखाई पड़ते थे। अपने देशके सब आचार-व्यवहार उन्हें अशोभन लगते थे, अपने प्राचीन

साहित्यमें उन्हें कोई काम की वस्तु नहीं दिखाई पड़ती थी। और यह कुप्रवृत्ति यहांतक बढ़ गई कि इन अङ्गरेज़ी पढ़े लिखे अङ्गरेज़-प्रिय युवकोंने भारतीय शील और परिवारमर्यादा भी तोड़ दी। भारतीयताके प्रति बढ़ती हुई इस अराजकताने समाजके कान खड़े कर दिए और अनेक महापुरुषोंने इसके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया और फिरसे गुरुकुलोंकी स्थापनाका प्रचार किया और वह प्रयास सफल भी हुआ। इस प्रकारके जितने प्रयास हुए उनमें सबसे अधिक महत्त्वका प्रयास था महामना पंडित मदन मोहन मालवीयका जिन्होंने काशीमें हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना करते हुए यह आदर्श रखा कि हम विद्याएँ तो संसार भरकी पढ़ावें किन्तु आचार-व्यवहार शुद्ध भारतीय हो।

भारतके इन आन्दोलनोंके साथ साथ योरोपमें भी उस मध्यकालीन शिक्षा-प्रणालीके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था जिसके अनुसार क्रूर अध्यापकोंके शासनमें बालक रख दिए जाते थे, छोटे छोटे अपराधोंपर बेंत सपसपाने लगती थी, भोजन बन्द कर दिया जाता था, नैतिक अपराधियोंके समान बालकोंको भी विद्यालयोंकी कालकोठरीमें बन्द कर दिया जाता था, बालकोंको कुक्कुर या मंडूक का रूप भी धारण करना पड़ता था, सबसे बोल-चाल बन्द कर दी जाती थी, बल पूर्वक लैटिन शब्दों और धातुओंके रूप घोटने पड़ते थे और न घोटनेपर बेंत खानी पड़ती थी, अध्यापक जो बता दे वह सीखना पड़ता था, जो

कह दे वह मानना पड़ता था; छात्रको न काम करनेकी स्वतंत्रता थी, न बोलने की, न सोचने की न कुछ बनानेकी। वह एक यंत्र मात्र था जिसे विद्यालयके निश्चित घंटोंके अनुसार चल फिरकर सार्थ-निरर्थक सूचनाओंका भंडार बलपूर्वक अपने मस्तिष्कमें तहाना पड़ता था।

योरपके स्वतंत्र विचारशील शिक्षाशास्त्रियोंने शिक्षकोंकी इस निर्दय कठोरताका विरोध प्रारंभ किया और समष्टि रूपसे उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि—

"बालककी कुलपरंपरा और उसके विकास-क्षेत्रका समुचित अध्ययन करके उसकी रुचिके अनुसार उसके पूर्वअर्जित ज्ञानसे संबद्ध करते हुए ऐसे रोचक विधानोंके द्वारा नया ज्ञान दिया जाय जिससे बालक रुचिपूर्वक क्रिया-शीलताके साथ अपने व्यक्तित्वका विकास करता हुआ अपनेको शिक्षित करता चले।"

यह पूरा सिद्धान्त जिस क्रमसे विकसित होकर इस रूपतक पहुँचा है उसमें अनेक शिक्षा-शास्त्रियों की साधनाका हाथ है और इन सबके विभिन्न प्रयोगोंने विश्व-शिक्षा-विधानको इस प्रकार प्रभावित किया है कि भारतीय शिक्षाकी नई योजना भी उसके प्रभावसे बच नहीं सकती और जब हम अपने स्वतन्त्र भारतीय संघमें शिक्षाकी नई योजना बनावेंगे उसमें इन प्रयोगोंका भी महत्त्व कम नहीं रहेगा।

शिक्षाके इन सब प्रयोगोंका इतिहास और विवरण

देनेसे पूर्व शिक्षाके कुछ मूल तत्त्वोंका विवेचन करलेना भी आवश्यक है। मूल तत्त्वोंका विवेचन करते समय कई प्रश्न सहसा उठ खड़े होते हैं—

शिक्षा किसे कहते हैं ?

क्या विद्या और शिक्षा समानार्थी शब्द हैं ?

क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए ?

शिक्षाका उद्देश्य किस आधारपर निश्चित किया जाय ?

पाठ्य विषय कितने और किस क्रमसे हों ?

क्या शिक्षानीति का निर्धारण राज्यकी ओरसे हो ?

क्या शिक्षाके लिये वर्ग-भेद आवश्यक है ?

इन प्रश्नोंकी व्याख्या कर चुकनेपर हम उपर्युक्त शिक्षा-शास्त्रियोंके महत्त्वपूर्ण प्रयोगोंपर गंभीरतापूर्वक विचार करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

शिक्षा किसे कहते हैं

बहुत से लोग समझते हैं कि किसी विद्यालयमें अध्ययन करके वहाँसे उच्चतम कक्षासे निकलनेपर हमारी शिक्षा पूरी हो जाती है। किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। अध्ययन करना एक बात है, शिक्षा ग्रहण करना दूसरी बात है। किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्॥

सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्।

[शास्त्रोंका अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रह जाते हैं, विद्वान् वही है जो क्रियावान हो, शास्त्रका व्यवहार भी कर सके। क्योंकि भली प्रकार निर्णय की हुई औषधि भी केवल नाम लेने भरसे रोगीको अच्छा नहीं कर सकती।]

अतः अनेक विषयोंका अध्ययन करना, उन्हें घोट डालना ही पर्याप्त नहीं है, उनका व्यवहार-ज्ञान भी होना चाहिए। इसी व्यवहार-ज्ञानको शिक्षा कहते हैं। किन्तु शिक्षाकी परिधि केवल अर्जित ज्ञानके व्यवहार मात्रतक परिमित नहीं है। शिक्षाके भीतर हमारी संपूर्ण व्यक्तिगत, पारिवारिक, नागरिक, राष्ट्रिय मानवीय तथा आध्यात्मिक सम्बन्धोंको व्यक्त करने वाली विवेकसंगत चेष्टाओंका समावेश होता है। इस परिभाषाकी व्याख्या करना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है और व्यक्तिके रूपमें उसके कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जो उसे अपने व्यक्तिगत विकास और रक्षाके लिये करने पड़ते हैं जैसे अपने लिये किसी प्रकार भोजन संग्रह करना और ऋतुओंके प्रभावसे तथा अन्य आपत्तियोंसे बचनेके लिये प्रयत्न करना। ये मनुष्यकी मूल आवश्यकताएँ हैं और प्रत्येक व्यक्ति इन आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है। इस प्रवृत्तिमें शिक्षा यह सहायता कर सकती है कि वह व्यक्तिको इस योग्य बना दे कि वह दूसरेको कष्ट दिए बिना ऐसी जीविकाके द्वारा भोजन एकत्र करे जिससे वह स्वयं भी

भोजन कर सके और उन अन्य प्राणियोंको भी भोजन दे सकें जो अशक्त, पंगु और असमर्थ हों। शिक्षाके द्वारा वह ऋतुओंके प्रभावसे बचनेके लिये केवल आड़ बनाकर न रह जाय वरन् ऐसा स्थान बनावे जहाँ कीट पतंग, विषैले जीव या मच्छर न आ सकें, जो सुन्दर हो और एक क्रमसे बना हो। शिक्षाके द्वारा वह ऐसे रक्षा-कौशल, दावपेंच या शस्त्र-प्रयोग जान जाय जिससे वह दूसरोंको कष्ट न देकर अपनी भी रक्षा कर सके और अपने पड़ोसियोंकी रक्षा भी कर सके। और इसीके साथ साथ शिक्षासे उसके मनमें परोपकार और पररक्षाकी ऐसी भावना भी उदित हो कि वह परके लिये 'स्व' का बलिदान करनेको उद्यत हो।

ठीक यही बात परिवार, नगर, जनपद, राष्ट्र, और विश्वसे व्यक्तिके संबंधकी उन चेष्टाओंके विषयमें भी है जिनके औचित्य या अनौचित्यपर हमारे व्यक्तिगत या सामाजिक उत्कर्षापकर्षके नैतिक सिद्धान्त अवलंबित हैं। अतः हमारे सब प्रकारके व्यवहारोंको लोकहितकी दृष्टिसे संयत और विवेकशील बनानेवाली सब क्रियाओंकी समष्टिको शिक्षा कहते हैं।

इस ऊपरके स्पष्टीकरणसे यह सिद्ध होगया कि शिक्षा और विद्या समानार्थी शब्द नहीं हैं। व्यायामचक्र वाले अपने हाथी, घोड़े, कुत्ते, सिंह, बकरी बन्दर, तोता मैना आदिको शिक्षा देकर ऐसा साध लेते हैं कि ये मूक जीव अपने मनुष्य

शिक्षकोंके आदेशपर काम करने लगते हैं। वे उनको यह सिखा देते हैं कि अमुक शब्दध्वनिपर किस प्रकारकी आंगिक प्रतिक्रिया उन्हें करनी चाहिए। किन्तु आप उन्हें रामायण और भागवत नहीं पढ़ा सकते, ज्योतिष और आयुर्वेदके तत्त्व नहीं समझा सकते, जीव और जगतके रहस्योंकी व्याख्याका बोध नहीं करा सकते। आप सिखा सकते हैं, पढ़ा नहीं सकते। हमारा संपूर्ण ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, इतिहास पुराण विद्याके अन्तर्गत हैं। अठारह विद्याओंकी गिनते करती हुए कहा गया है कि चार वेद (ऋक्, यजुः साम, अथर्व), छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, और निरुक्त), मीमांसा, न्याय, धर्म पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र और अर्थशास्त्र मिलकर अठारह विद्याओंकी समष्टि होती है। इसके अतिरिक्त इस युगमें विज्ञानने जितने ज्ञानका विकास किया है वह भी सब विद्याके ही अन्तर्गत आ जाता है। अतः विद्या उस संपूर्ण ज्ञान राशिको कहते हैं जो हमारे पूर्वजोंके तथा समकालीन विद्वानोंके अनुभव और प्रयोगके द्वारा संचित की गई है और की जा रही है। उस विद्या का प्राप्त करना केवल साधना पक्ष है और उस विद्याका प्रयोग करना, जीवनमें अवसरके अनुकूल कल्याणकारी रूपमें उसका व्यहार करना ही व्यवहार पक्ष है जो शिक्षासे आता है। विद्या और शिक्षा समानार्थी न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं, इनका भी

शब्दार्थके समान नित्य सम्बन्ध है। अतः जब हम शिक्षाकी बात कहते हैं तो उसमें विद्याकी भावना भी अन्तर्निहित रहती है और हम आगे इसी विस्तृत अर्थमें शिक्षा शब्दका व्यवहार करेंगे।

क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए ?

प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षाका द्वार खुला रखना प्रत्येक विद्यालयका नैतिक कर्त्तव्य है। जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय आदि अनेकप्रकारकी जो मानवीय श्रेणियाँ बन गई हैं उनसे शिक्षामें बाधा नहीं पड़नी चाहिए। किन्तु अनुभवसे यह ज्ञात हुआ है। प्रत्येक मनुष्य शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक नहीं होता, सबकी रुचि नहीं होती। तो क्या शिक्षा प्राप्त करना बालककी रुचि या अरुचि पर छोड़ दिया जाय? यदि बालक पर ही यह निश्चय छोड़ दिया जाय तो संभवतः सौमें दस बालक भी ऐसे नहीं निकलेंगे जो स्वेच्छासे विद्यालय जाने के लिये उत्सुक होंगे। क्या कारण है कि इतनी अधिक संख्यामें विद्यार्थिगण पाठशालामें नहीं जाना चाहते। प्रयोगसे यह परिणाम निकाला गया है कि पाठ्यक्रमकी बहुलता, पाठ्य प्रणालीकी नीरसता, अध्यापकोंकी कठोरता, पाठशाला की रूक्षता ये सब मिलकर छात्रोंमें विरक्ति उत्पन्न करते रहे हैं और यदि इन सब परिस्थितियोंमें परिवर्त्तन हो जाय, पाठ्यक्रम सरल और क्रमिक कर दिया, पाठ्य प्रणाली सरस हो जायँ, अध्यापक सदय और सहृदय हो जायँ और पाठ-

शालाका वातावरण अधिक सरस, आकर्षक और अनुरंजक हो जाय तो बालक दौड़े, चले आवेंगे, सिर के बल चलकर आवेंगे।

किन्तु शिक्षाके सब क्षेत्रोंमें, सब श्रेणियोंमें इस प्रकारका वातावरण उत्पन्न नहीं किया जा सकता, भारत जैसा विशाल राष्ट्र अपनी आर्थिक हीनताकी दशामें विद्यार्थियोंको इस रूपमें परिवर्तित करनेका व्यय-भार नहीं सँभाल सकता। केवल प्रारंभिक अवस्थाके बालकोंके लिये ऐसी व्यवस्था संभव है। और इसके पश्चात् क्या हो?

शिक्षाके प्रश्नको हमें कई दृष्टियोंसे देखना होगा। केवल यही नैतिक सिद्धान्त पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक मानवका अधिकार है शिक्षा प्राप्त करना और प्रत्येक राष्ट्रका कर्त्तव्य है राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षा सुलभ करना। इस अनिवार्य शिक्षाकी एक सीमा होनी चाहिए और उसका क्रम भी इस प्रकार बन जाना चाहिए कि उस अनिवार्य शिक्षाकी अवस्थामें बालककी रुचि, प्रवृत्ति और मनोवृत्ति इतनी परिपक्व हो जाय कि उस अवस्थाको पार करनेके पश्चात् वह निश्चित रूपसे अपने भविष्यकी वृत्ति चुन सके। इसका निष्कर्ष यह निकला कि एक विशेष अवस्था तक प्रत्येक बालकको इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि वह अपने अध्ययनके विभिन्न विषयोंके आधारपर यह निर्णय कर ले कि मैं किस वृत्तिका आश्रय लेकर अपनी जीविका कमाता हुआ राष्ट्रका और समाजका उपयोगी अङ्ग बन सकता हूँ। उपयोगी अङ्ग

बननेका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि वह देशकी आर्थिक समृद्धिमें ही योग दे वरन् अपने आचरणसे दूसरोंको सुख भी दे और निर्भयता, सचाई, शील आत्मत्याग तथा सदाचारके साथ अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ समाज और देशकी सेवा भी करे क्योंकि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्रतथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

[धर्मशास्त्र पढ़ लेनेसे ही कोई दुष्ट धार्मिक नहीं बन जाता और न वेद पढ़नेसे ऋषि बन जाता। अच्छा बुरा बनना तो स्वभाव पर निर्भर है जैसे गौका दूध स्वभावसे ही मधुर होता है।] इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमें शिक्षामें इतनी बातोंकी योजना करनी पड़ेगी।

१. विद्यालयका वातावरण ऐसा हो जिसमें बालक पारस्परिक सहयोग, सेवा, उदारता, निर्भयता, शील, सत्यता और सदाचारका महत्त्व समझकर अपना स्वभाव उसी प्रकार ढाल सके।

२. इतनी अवस्था तक इतने विभिन्न विषयोंसे उसका निकटतम परिचय करा दिया जा कि वह उनके आधारपर अपनी भावी वृत्ति निश्चय कर सके।

३. अध्यापन-शैली, पाठ्य-पुस्तक तथा अन्य साधन इतने आकर्षक हों कि बालक स्वतः प्रवृत्त होकर

यह रख सकते हैं कि "हमारी शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित की जाय
रुचिके साथ ज्ञान अर्जन करने के लिये उत्सुक हो।

इतनी सुबिधा राष्ट्रके प्रत्येक बालकके लिये होनी ही चाहिए और इस सिद्धान्तके अनुसार केवल एक प्रकारकी अनिवार्य तथा निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित की जायँ। किन्तु इससे आगे की शिक्षा देनेवाली संस्थाओंको यह छूट अवश्य रहे कि वह यदि चाहें तो किसी विशेष उद्देश्यके अनुसार किसी विशेष वृत्ति विशेष या प्रयोजन विशेष के लिये शिक्षा दे और उसकी व्यवस्था करे किन्तु राष्ट्र-कोश पर उसका भार न हो।

शिक्षाके उद्देश्य किस आधार पर निश्चित् किए जायँ?

शिक्षाके कुछ तो सार्वभौम उद्देश्य हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है जैसे—

१. शील, सदाचार, निर्भयता, सत्यता, उदारता, राष्ट्र के लिये स्वास्थ्य और आत्म-त्याग और सदाचारके साथ उपयोगी नागरिक बनाना।

किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे एक कालिक उद्देश्य भी होते हैं जो किसी विशेष युगमें किसी विशेष परिस्थितिके कारण निर्धारित कर लिए जाते हैं। यदि हम अपने देशकी शिक्षा-योजना बनाना चाहें तो हमें पहले यह देखना चाहिए कि हमारे देशमें ऐसी कौन सी त्रुटियाँ हैं जिनकी पूर्त्ति

तत्काल आवश्यक है। व्यापक रूपसे विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारे देशमें:—

(१) निरक्षरता

(२) दरिद्रता

(३) सैनिक शक्ति-हीनता

(४) सरोगिता

(५) रूढ़िवादिता

—पांच बड़ी भारी त्रुटियां हैं जिन्हें दूर करना तत्काल आवश्यक है अतः हम अपनी शिक्षाका उद्देश्य तबतक के लिये यह रख सकते हैं कि

"हमारी शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित की जाय कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति साक्षर हो जाय, उसे इतनी व्यावसायिक योग्यता हो जाय कि वह सुखी जीवन बिताने योग्य अपनी जीविका कमानेके साथ-साथ राष्ट्रकी व्यावसायिक उन्नतिमें भी योग दे, वह अभिनव शस्त्रास्त्रोंके प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करके बाहरी शत्रुओंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा में सहायता कर सके, स्वयं स्वस्थ रहकर अपने पास-पड़ोस, नगर-गाँव को स्वस्थ रख सके और अपने प्राचीन संस्कारोंकी रक्षा करते हुए भी नवीन युगके संपूर्ण ज्ञान-विज्ञानके उपयोगी अंशका भरपूर प्रयोग कर सकें। जब इतनी बात निश्चित हो गई तो हमें इस प्रश्नका उत्तर देना भी सरल हो गया कि—

पाठ्य विषय कितने और किस क्रमसे हों ?

बालकोंकी शिक्षा-व्यवस्था करने से पूर्व हमें यह सदा विचार करना पड़ता है कि उन्हें क्या पढ़ाया जाय। सभी विषयोंके शिक्षणके प्रयोजनोंका वर्गीकरण करने से छः मुख्य प्रयोजन स्थिर होते हैं—

१. नींव बनाना या प्रारंभिक आधार बनाना
२. परिचय कराना
३. व्यवहार ज्ञान कराना
४. सामाजिकताका भाव बढ़ाना
५. नैतिक शिक्षा देना
६. रूढ़िगत संस्कार स्थिर करना
७. सांस्कृतिक ज्ञान देना

१. संपूर्ण ज्ञानकी नींव या आधार स्थापित करने वाले विषयोंमें लिखना पढ़ना और गणित ये तीन बातें आती हैं। सीख लेनेमें हमें सहायता मिलती है और गणित के ज्ञानके आधार पर हम बीजगणित, रेखागणित ज्योतिष आदि सीख सकते हैं, पढ़ने लिखनेका ज्ञान प्राप्त करके हम अपने संसारका इतिहास देशविदेशोंका वर्णन और साहित्य अध्ययन कर सकते हैं।

२. कुछ ऐसे विषय हैं जो दूसरे विषयों का परिचय करा देते हैं जैसे भूगोलका अध्ययन करने से हम विज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंसे परिचित हो जाते हैं जैसे वनस्पति विद्या जीव विद्या, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि। इसी प्रकार

महा-काव्योंमें वर्णित विशिष्ट महापुरुषोंके चरित्र पढ़कर उन महाकाव्यों से भी हमारा परिचय हो जाता है अर्थात अर्जित ज्ञानके आधार पर उससे संबंध रखने वाला नया ज्ञान दिया जा सकता है।

३. व्यवहार ज्ञान कराने वाले विषयोंमें वे सभी विषय है जिनके द्वारा हम अपनी रक्षा करते है जीविका चलाते हैं और परस्पर समाज तथा नगर नगर के विभिन्न कार्योंमें व्यवहार करते हैं। यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रायः कक्षा से बाहर ही सिद्ध होता है और मनुष्य अपने अनुभव से ही इस प्रयोजनकी शर्तें कर लेता है किन्तु कक्षा में भी अध्यापकोंके आचरण तथा अन्य सामूहिक उत्सवोंमें नाट्य, भाषण आदि के द्वारा उसकी भी व्यवस्था की जा सकती है।

४. सामाजिकता का भाव बढ़ाने वाले वे सभी विषय हैं जिनसे हम अपने पूर्व पुरुषोंके सामाजिक व्यवहार व संस्कार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विभिन्न देशोंके आचार, विचार, और नीति, नियम का परिचय पाते हैं और अपने देशकी राज व्यवस्था के अनुसार तथा तत्कालीन समाज नीतिके अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक आचरणका व्यवहार सीखते हैं। इसके अन्तर्गत इतिहास भूगोल नागरिक शास्त्र, यात्रा विवरण, हस्त कौशल उपन्यास, चल चित्र, आदि ऐसे विषय और हैं जिनसे हम अपना सामाजिक ज्ञान बढ़ा सकते हैं और जो हमारे सामाजिक व्यवहारमें सहायक हो सकते हैं।

५. ऐसे कोई निर्दिष्ट विषय नहीं हैं जिनसे नैतिक शिक्षा सीधे दी जा सकती हो। नैतिक आख्यानों द्वारा नाटकों द्वारा तथा अध्यापकों के आचरण द्वारा नैतिक शिक्षाका कुछ रूप उपस्थित किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए व्यवस्थित शिक्षाका कोई पाठ्यक्रम नहीं निर्धारित किया जा सकता। यों, साधारण तया कहा जा सकता है कि विज्ञान द्वारा सत्यता का इतिहासके द्वारा आत्मत्याग, वीरता, लगन, और साहसका कलाकौशल द्वारा सुरुचि और संलग्नताका थोड़ा बहुत भाव बढ़ता ही चलता है और वह बालकोंके नैतिक विकासमें सहायक होता है।

६. कुछ ऐसे विषय हैं जो किसी विशेष जाति या वर्गके संस्कारों से संबद्ध होते हैं। हम यदि अपने ही देशकी बात लें तो प्रत्येक हिन्दू के सब संस्कार संस्कृत में होते हैं और जितने भी धर्मग्रन्थ और सांस्कृतिक महा काव्य हैं सभी संस्कृत में हैं अतः प्रत्येक हिन्दूके लिए अपने रूढ़िगत संस्कार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृतका पढ़ना आवश्यक है।

७. सांस्कृतिक विषयों में दार्शनिक ग्रन्थ तथा वे सभी ललित कलाएँ आ जाती हैं जिनसे हमारी रुचि परिष्कृति होती है, जीवनमें कलात्मकता और सुन्दरता आती है, सुरुचिपूर्ण कल्पनाका विकास होता है, आत्मानन्द के साथ दूसरोंको भी सुख दिया जा सकता है और उदात्त वृत्तियों का संरक्षण और पोषण होता है। इनमें संगीत चित्र-कला,

मूर्ति-कला, काव्य नाटक आदि विषयों का समावेश होता है।

इन सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले सब विषय एक साथ नहीं पढ़ाए जा सकते। प्रारम्भ में हम इस क्रम से विषयों के शिक्षणकी व्यवस्था कर सकते हैं।

१, मातृ-भाषा में पढ़ना और लिखना।

२, गणित

३, सामाजिक विज्ञान इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र।

४, संगीत तथा चित्र

किन्तु हम ऊपर कह आए हैं कि भारत की वर्तमान अवस्थाके अनुसार हमें ऐसे विषय भी पढ़ाने चाहिए जिनसे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारी सैनिक शक्ति बढ़े, हममें बढ़ती हुई सरोगिता दूर हो जाय और हम संसार के सब देशों के साथ होड़ कर सकते हैं। अपने प्राचीन संस्कारों की रक्षा करते हुए भी नये ज्ञान-विज्ञानका समुचित लाभ उठा सकें। इसका यह अर्थ हुआ कि हमें अपने पाठ्य विषयों में निम्नलिखित विषय और बढ़ा देने होंगे—

१, व्यावसायिक शिक्षा

२, सैनिक शिक्षा

३, स्वास्थ्यकी शिक्षा

४, विज्ञान

इतने विषयों की शिक्षा की व्यवस्था करके ही हम कह सकते हैं कि हमने अपना पाठ्यक्रम ठीक बनाया है, किन्तु

इतने सब विषयों को पाठ्यक्रममें डालते समय हमें कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि बालक के कोमल मस्तिष्क पर सहसा बहुतसा बोझ न लाद दिया जाय। इसे सीक्रमाका निमय कहते हैं अर्थात् धीरे धीरे विषय बढ़ाए जाय एक साथ सब प्रारम्भ न कर दिये जाय। नहीं तो सब विषय भी कच्चे रह जायँगे। पढ़ाने की व्यवस्था भी न हो सकेगी। और छात्रोंको भी शिक्षा से अरुचि हो जायगी।

दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य यह है कि जो विषय एक बार एक वर्गमें पढ़ाए जाँय, उसके लिये इतना पर्याप्त समय दिया जाय कि बालक उनका ठीक प्रकार से अध्ययन कर सके, क्योंकि यदि पर्याप्त समय न दिया गया तो उसके लिए संपूर्ण परिश्रम व्यर्थ जायगा। और यह एक राष्ट्रीय क्षति होगी। इसे पर्याप्ता का नियम कहते हैं।

तीसरी बात यह कि प्रत्येक नया विषय पहले विषयके साथ उपयुक्त रीति से संबद्ध होना चाहिए। अर्थात् उसमें एक प्रकारका क्रम और नियमित वृद्धिहोनी चाहिए। अर्थात् किसी भी विषयका आगे का ज्ञान पिछले ज्ञान से इस प्रकार संबद्ध होना चाहिए कि आगे का ज्ञान प्राप्त करने में बालक को कठिनाई न हो और साथ साथ उसका बौद्धिक ज्ञान भी विकसित हो। इसे संबद्धरम का नियम कहते हैं।

चौथी बात यह है कि जो ज्ञान एक बार प्रारम्भ किया जाय उसकी धारा निर्वाध रूपसे बहती चलनी चाहिए

उसमें किसी प्रकारका व्यतिक्रम या व्याघात नहीं होना चाहिए। वह ज्ञानधारा इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिए कि बालक क्रम से धीरे-धीरे निर्बाध रूप से उस विषयका अध्ययन निरन्तर करते चलें। इसे निर्बाधता या निरन्तरताका नियम कहते हैं। इन नियमों पर ध्यान रख कर ही हमें पाठ्य विषयोंका क्रम निर्धारित करना चाहिए।

क्या शिक्षा नीतिका निर्धारण राज्यकी ओर से हो ?

हमारे देशमें वैदिक युग से यह यह विधान चला आ रहा है कि शिक्षाकी व्यवस्था का कुल भार विद्वानों या आचार्यों पर हो। राज्यका या धनियों का केवल यही कर्तव्य था कि वे धन से गुरुकुलों की सहायता करें और यह प्रथा नालन्दाके युगतक, हर्ष के समय तक चली आई। किन्तु उसके पश्चात् मुसलमानों के राजत्वकालमें गुरुकुल प्रथा तो नष्ट हो गई किन्तु फिर भी संस्कृत के पंडित लोग उसी पुरानी प्रणाली से अपने स्वतंत्र, रूढ़िगत प्रबन्धके अनुसार शिक्षा-दीक्षा देते रहे किन्तु अङ्गरेजी राज्यमें केवल अँगरेजी शिक्षा ही नहीं वरन् संस्कृत शिक्षा प्रणाली भी राज्यने अपने हाथ में ले ली और उसका विषम परिणाम यही हुआ कि परीक्षाके लिए शिक्षा होने लगी और परीक्षा में उत्तीर्ण हुए लोग आचार्य पंडित और विद्वान बन बैठे न वास्तविक विद्वत्ता रही न वास्तविक विद्वान रहे।

शिक्षाका क्षेत्र सदा राजनीतिज्ञोंसे अलग रहना चाहिए

और या प्राचीन यूनानके समान पैडागौग [अध्यापक] ही डैमागौग [राजनीतिज्ञ] होने चाहिए। शिक्षाका मनुष्यके नैतिक और सामाजिक जीवन से संबन्ध है और इस लिए शिक्षाको सदा राजनीतिज्ञों की परिवर्त्तन शील, कुटिल और अनिश्चित नीति से मुक्त रहना चाहिए। राजनीतिके सिद्धान्त और गतियाँ सदा परिवर्त्तन होती चली जाती हैं। आज एक दल शक्तिशाली हुआ उसने अपनी सनक के अनुसार शिक्षाकी एक नयीं योजना गढ़ी, दूसरा दल आया उसने अपनी सनक की तृप्ति की और इस प्रकार शिक्षाका संपूर्ण क्रम राज नीतिज्ञों की स्वेच्छाचारिता और सनक पर इधर उधर ठोकर खाता फिरता है। इस अनियमितता-को रोकने के लिए दो ही उपाय हैं या तो एक अध्यापक ही राजनीतिका संचालन अपने हाथमें ले ले या राजनीतिज्ञोंके हाथ से शिक्षाका भार ले ले। इसलिए शिक्षा शास्त्रियोंका तथा उदार विचार शील राजनीतिज्ञोंका यह कर्त्तव्य है कि शिक्षाको राजनीतिक दलोंके क्रीड़ा क्षेत्र होनेसे बचाले। क्योंकि जब तक शिक्षाको राजनीति से मुक्ति नहीं मिलेगी तब तक स्वतंत्र शिक्षा वैज्ञानिकोंको न तो अपने स्वतंत्र प्रयोग करने की सुविधा होगी और न हमारी शिक्षा पूर्ण होगी।

क्या शिक्षाके लिए वर्गभेद आवश्यक है ?

आजकलकी शिक्षाको देखकर बहुतसे लोग यह प्रश्न उठा रहे हैं कि क्या सभी को समान रूप से एक सी शिक्षा

देनी चाहिए इसका उत्तर मनोविज्ञान और प्राणि विज्ञानने भलीभांति दे दिया है। हम जैसा ऊपर कह आए हैं कि कुछ आधार ज्ञान सब व्यक्तियोंके लिए समान रूप से आवश्यक हैं किन्तु उस आधार ज्ञानके अनुसार जो आगेका समुन्नत ज्ञान दिया जाय उसमें शिक्षा शास्त्रियोंको विवेक से काम लेना चाहिए। बहुत से देशोंमें यह व्यवस्थाकर दी गई है कि बालकों की रुचि, प्रवृत्ति और क्षमताकी परीक्षा लेकर उनके लिए भावी वृत्ति और पाठ्य सरणि निर्धारित कर देते हैं और उसीके अनुसार उसकी आगेकी शिक्षा होती है हमारे देशमें भी इसकी कुछ न कुछ व्यवस्था हुई है किन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और अकारथ है। आवश्यक यह है कि बालकोंके घरेलू व्यवसाय उनकी प्रवृत्ति और उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमताको देखकर उनका आगेका पाठ्य क्रम निर्धारित किया जाय। इसमें वृत्तिके अनुसार वर्ग बनाए जा सकते हैं। स्त्रियोंका शिक्षाक्रम भी अलग होना चाहिए और उन्हें इस प्रकारकी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे राज्यके सुखमय विकासमें उचित और व्यावहारिक रूप दे सकें।

इस प्रकारके स्वाभाविक वर्ग बना देने से ज्ञानके और कौशलके विभिन्न क्षेत्रोंकी स्वाभाविक उन्नति तो होगी ही। साथ ही जो सामाजिक विषमताएँ और प्रतिद्वन्द्विता की घातक प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं वे भी स्वतःसमाप्त हो जायगी।

शिक्षाके सिद्धान्तोंके सबंधमें जो हमने ये उपर्युक्त

तात्त्विक मीमांसाँकी है उसका तात्पर्य यही है कि योरोपमें शिक्षाके संबधमें जो आन्दोलन या प्रयोग हुए हैं उनका हम भारतकी दृष्टि से भलीप्रकार अध्ययनकर सकें।

योरोपकी शिक्षा-परंपरा

विद्या और शिक्षाके मौलिक भेदकी मीमांसा कर चुकने पर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि कभी कभी हम बिना किसी के सिखाए सीख लेते हैं और बिना किसी के बताए जान लेते हैं। हमारा संपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक आचार-व्यवहार बिना किसी के सिखाए केवल अनुकरण के बलपर हमें आ गया हैं। चलना-फिरना, नमस्कार-प्रणाम करना, विशेष अवसरोंपर विशेष प्रकार का आचरण करना यह सब हमने दूसरोंको-अपनोंसे बड़ोंको-देखकर सीखा है। सभी युगोंमें यह होता चला आया है कि जो समाजके नेता अग्रणी या महापुरुष होते रहे उन्हींके चरित्रको आदर्श और अनुकरणीय मानकर समाजने अपने आचरण की प्रतिष्ठा की। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

[श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं। वह जिस बातको ठीक बता देता है, समाज भी उसीको ठीक मानकर उसका व्यवहार करने लगता है]

किन्तु इस अनुकरण के अतिरिक्त प्रत्येक प्राणीमें सीखते चलनेकी स्वतः प्रवृत्ति भी होती है। चिड़िया अपने बच्चेको उड़ना नहीं सिखाती और न घोंसलेमें बैठा हुआ बच्चा ही देख पाता है कि मेरी माता या पिता किस प्रकार पंख फैलाकर या हिलाकर आकाश नाप डालते हैं। किन्तु जैसे ही उसके पंख सशक्त होने लगते हैं, वह भी आकाशमें उड़ चलनेके लिये पंख फैलाने लगता है। सिंहनीके बच्चेको कोई सिखाता नहीं है कि हाथी पर आक्रमण कर। वह स्वयं स्वभावसे उसे शत्रु समझने लगता है। और उसे सामने देखते ही उसके माथे पर चढ़ बैठता है। इसी प्रकार मनुष्य भी बहुत सी बातें स्वभावसे ही सीखने लगता है, विशेष रूपसे अपनी रक्षाका पाठ, भोजन जुटानेका पाठ और तन ढकनेका पाठ। यह स्वतः प्रवृत्ति द्वारा शिक्षित होनेका क्रम सभी देशोंमें और सब कालोंमें रहा है और रहेगा। अतः हम जब भी कभी शिक्षाकी योजना बनावें, हमें सदा यह स्मरण रखना होगा कि पढ़ाने-सिखानेकी हम चाहे जितनी भी कलाएँ निकालें किन्तु मनुष्यमें स्वाभाविक रूपसे सीखनेकी जो प्रवृत्ति रहती है वह सबसे अधिक प्रबल तथा तीव्र रहती है और जड़ तथा मूढ़ बालकोंको छोड़कर शेष सभी बालक अपनी शिक्षाके समय अपनी स्वतःप्रवृत्तिसे ही अधिक प्रेरित होते हैं।

भारतवर्षने मानवकी इस मूल शिक्षा-पद्धतिको किस युगमें, किन परिस्थितियोंमें किस क्रमसे संयत और

व्यवस्थित किया, इसका इतिहास प्राप्त नहीं है। हमारे शिक्षाक्रमका जो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है उसके अनुसार तो मानो सर्वाग्रणी हिरण्यगर्भ से सहसा जो ज्ञान फूटा वह हमारे आदिमानवने पूर्ण अवस्थामें ग्रहण कर लिया और मानव-समाजमें बाँट दिया किन्तु योरोपमें जिस क्रमसे शिक्षा-पद्धतियोंका विकास हुआ है उसका सटीक इतिहास प्राप्त है।

अशिक्षित मानवता की मूल अवस्था की परंपरामें भी मनुष्यने अपनी बनमानुसी प्राकृतिको धीरे धीरे छोड़कर आखेटके लिये शस्त्रास्त्र बनाए, नदियोंको पार करनेके लिये नावें बनाईं, रहनेको झोंपड़ियाँ बनाईं, आखेटमें मारे हुए जीवोंकी खाल से तन ढका, मछली मारनेको बनसी बनाई, जाल बनाए, काँटे बनाए, भोजन रखनेके लिये सींके और बर्तन खेत जोतनेको हल, खेती काटनेको हँसिए बनाए, इधरसे उधर आने जाने, लाने-ले जानेके लिये गाड़ियाँ बनाईं और फिर परिवार, समाज, गाँव, जनपद और राष्ट्र बन चले। आत्मरक्षा और लोकरक्षाके नियम बनने लगे और इस प्रकार मनुष्य क्रमशः सभ्य होने लगा। किन्तु इस सभ्यताकी गतिके साथ साथ वह प्रकृतिसे भी दूर हटता चला गया और तत्कालीन मानव समुदायोंमें परस्पर श्रेष्ठताकी स्पर्धा होने लगी, युद्ध होने लगे। सभी देशोंके इतिहासोंमें यहीं क्रम रहा है और योरोप भी इसका अपवाद नहीं था।

इसी उन्नतिकी अवस्थामें मनुष्यने आत्मालंकरण की प्रवृत्ति भी दिखाई। प्राकृतिक विप्लवोंसे भयभीत होकर मनुष्यने देवोंकी और दिव्यशक्तियोंकी कल्पना करके, अपने सुख और अपनी समृद्धिके लिये उन्हें तुष्ट करना भी अपना कर्त्तव्य समझा। धर्म भी समाजका अङ्ग बन गया, देवताओंकी संख्या बढ़ने लगी। भावुकों और साधकोंकी साधनाओं और अनुभवोंके आधारपर नूतन देवसृष्टि हो चली और मनुष्य देव-भीरु और धर्मभीरु हो चला। समाजकी इस अवस्थाके तीन मुख्य रूप प्रस्तुत हुए, एक आत्म-रक्षणका रूप, दूसरा समाज या वर्ग—रक्षणका रूप और तीसरा धर्म-रक्षणका रूप। आत्मरक्षणके लिये खेती करना, ढोर पालना शास्त्रास्त्र बनाना, घर उठाना वस्त्र बनाना, समाज,रक्षणके लिये नियम बनाना, संघरूपमें शत्रुसे युद्ध करना, और धर्मरक्षणके लिये विशिष्ट रूपसे देवताओंकी तुष्टिके लिये प्रयत्न करना, ये ही उनके गिने चुने काम थे और घरके बड़े-बूढ़े इन सब बातोंकी सीख अपने बच्चोंको दे लेते थे और बच्चे भी देख-सुनकर सब सीख जाते थे। किन्तु जब समाज जटिल होने लगा और मनुष्यकी आवश्यकताओं की परिधि बढ़ने लगी, गृहपतियोंको समय कम मिलने लगा तब यह आवश्यकता हुई कि अब बच्चोंको पढ़ाने-सिखानेका काम सौंपा जाय। इस प्रकार अध्यापक या शिक्षकका नया वर्ग प्रारंभ हो गया।

यह स्वाभाविक था कि जो व्यक्ति अधिकसे अधिक

जानता हो उसे ही अध्यापक बनाया जाय। उधर देवताओं को तुष्टि करनेका उपाय जानने वाले पुरोहित लोग स्वभाविक रीतिसे लोक-नेता बन गए क्योंकि लोगोंको भी भय होने लगा कि कहीँ हमारे पुरोहित लोग रुष्ट होकर देवताओंके द्वारा कोई विपत्ति न ढाने लगें। मिस्रमें पुरोहित ही विशिष्ट अध्यापक बन गए यद्यपि केवल अध्यापन करने वाले लोगों का भी एक वर्ग धीरे धीरे रूप धारण कर रहा था और विद्वान् लोग स्थान स्थान पर स्वयं अपनी पाठशाला खोलकर पढ़ानें भी लगे थे। उनकी पाठन-प्रणाली बस यही थी कि जो बताया जाय उसे कंठाग्र करो और जो अपनेसे बड़ोंको करते देखो वैसा ही आचरण करो। लोहे कलम से लकड़ी पर या स्याहीसे सरपतके पट्टोंपर लिखवाया जाता था, पढ़वाया जाता था और गिनती गिनवाई जाती थी। नियम बड़े कठोर थे, शारीरिक दंड कसकर दिए जाते थे और अध्यापक का बड़ा आदर होता था, उसके विरुद्ध मुँह खोलना पाप समझा जाता था।

बाबुली, असोरी, हिब्रू, फिनीशी लोगोंकी शिक्षा-प्रणाली बड़ी ढीली-ढाली चलती रही। इन जातियोंमें पढ़ना, लिखना, गणित, इतिहास, धर्म, स्तोत्र, घरेलू शिल्प, गीत, नृत्य और व्यापार सिखलाया जाता था। शासन-विधान, कर्त्तव्य-शास्त्र, ज्यौतिष और भूगोलकी शिक्षा वे गिनेचुने लोग ग्रहण करते थे जो अपने घरके व्यापारको छोड़कर इन विद्याओंके द्वारा जीविका चलाना चाहते थे। शिक्षक सभी पुरोहित या धर्म-

गुरु लोग होते थे और इन्हीं लोगोंके कारण वहाँ की शिक्षा-पद्धतिमें वह व्यापकता और उदारता नहीं आ पाई जो यूनान और रोमकी शिक्षा-प्रणाली से आ सकती थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन सेमेटिक जातियोंकी संपूर्ण शिक्षा अत्यन्त संकुचित तथा अनुदार घेरेमें घिरकर घुट गई, पनप नहीं पाई, बढ़ नहीं पाई।

यूनान में होमरके समयसे जिस शिक्षापद्धतिका श्रीगणेश हुआ था वह रोमके आक्रमणतक अनेक रूपोंमें परिवर्त्तित होती रही और यह परिवर्त्तन शिक्षाके आदर्शोंमें भी हुआ और पाठन-सामग्रीमें भी। जिस युगमें योरोपपर यूनानका प्रभुत्व था उस युगमें भी यूनानके विभिन्न राज्योंमें भिन्न भिन्न शिक्षण-व्यवस्थाएँ थीं जिनमें मुख्यतः दो अधिक महत्त्वपूर्ण थीं—एक अथेन्सकी, दूसरी स्पार्त्ताकी। दोनोंकी आदर्शःभिन्नताका कारण बहुत कुछ प्राकृतिक था। अथेन्सी लोग आयोनियोंकी सन्तान थे, अत्यन्त कल्पनाशील, कलात्मक और साहित्यिक रूचि वाले थे। स्पार्त्ती लोग दोरियोंकी सन्तान थे, अत्यन्त कल्पनाहीन, नितान्त व्यावहारिक और परम योद्धा थे। अथेन्सी लोग समुद्रके पास रहते थे और विभिन्न देशोंके साथ व्यापारका सम्बन्ध स्थापित कर लेनेके कारण उनकी वृत्ति, संस्कृति और भावना अत्यन्त उदार और परिष्कृत हो गई थी। उधर स्पार्त्ती लोग पर्वतोंसे घिरी हुई घाटियोंके परिमित संस्कारमें पले थे और बाहरके जगत तथा उदार व्यवहार से नितान्त

विच्छिन्न थे। इसलिये अथेन्सियोंकी शिक्षाका आदर्श था सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण-जीवनका उपभोग करना। फल यह हुआ कि व्यक्ति उसकी रुचि तथा सम्मतिका बड़ा आदर किया जाने लगा। सौन्दर्यकी उदात्त भावनाके साथ वहाँके बालकों को यूनानी व्याकरण, काव्य, शैली, अलंकार-शास्त्र, वक्तृत्वकला, संगीत, गणित, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिकी शिक्षा दी जाने लगी। वहाँके अध्यापक सब परम स्वतन्त्र और मनस्वी थे। वे पैदागौग (अध्यापक) ही दैमागौग (राजनीतिज्ञ) भी बन गए। उन्होंने अपने व्यक्तिवादको तो आवश्यकतासे अधिक समुन्नत किया ही साथ ही अपने शिष्योंको भी ऐसे अवाञ्छनीय रूपसे प्रगति-शील, स्वतन्त्र, उच्छृङ्खल, झगड़ालू और उद्दंड बना दिया कि उनके हृदयमें न राज्यके प्रति निष्ठा रह गई न अपने गुरुओंके प्रति।

स्पार्त्तियोंका आदर्श हुआ साहस और विनयका इस प्रकार संवर्द्धन करना कि व्यक्ति सब प्रकारसे राज्यके लिये आत्मसमर्पण कर सके। साहित्य तथा कलाके अध्ययनके लिये बहुत ही कम प्रोत्साहन दिया जाता था। हुआ यह कि अपने आदर्शकी रक्षाके फेरमें सारी राजकीय शिक्षाने सैनिक बाना पहन लिया और कठोर शासनके लिये 'स्पार्त्ती नियम' एक लोक-शब्द बन गया। वहाँ युद्धमें जानेवाले सैनिकको ढाल देकर यही कहा जाता था—'इसे साथ लेकर आना या इसपर चढ़कर आना'। जो

युद्धमें जीतकर आता था वह अपनी ढाल साथ लेकर आता था और जो वीरगतिको प्राप्त होता था उसे उसीकी ढालपर डालकर घर लाया जाता था । कठोर सैनिक शिक्षाका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत शिक्षा दी नहीं गई और इसीलिये स्पार्त्तियोंकी नैतिक दशा अत्यन्त हीन रह गई ।

व्यक्तिगत समुन्नतिकी शिक्षाके अभावमें स्पार्त्तासे एक भी तेजस्वी शिक्षाशास्त्री उत्पन्न नहीं हो सका । यूनानके सभी प्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञ, गुरु और लेखक अथेन्सवासी ही थे जिनमेंसे चार महापुरुषोंकी ख्याति आजतक बनी हुई है । वे हैं सुकरात (सोक्रतेस् या सौक्रेटीज़), त्सीणोन (क्सेनोफ़न या जेनोफ़न), अफ़लातून [प्लतो या प्लेटो] और अरस्तू [अरस्तोतल या ऐरिस्टौटिल], जिन्होंने योरोप-की शिक्षाके इतिहास और विधानको बहुत दिनोंतक प्रभावित किए रक्खा ।

रोमवाले भी प्रकृतितः अथेन्सियोंकी अपेक्षा स्पार्त्तियोंसे अधिक मिलते जुलते थे । उनकी प्रारंभिक शिक्षाका केन्द्र था घर, जहाँ एकमात्र गृहपतिका शासन चलता था । बालकोंको बारह सरणियोंके नियम१ व्यापार, खेती,

---

१, बारह सरणियेँाके नियम (लौज़ औफ़ दि (ट्वैल्व टेब्ल्स)
रोमके शासन नियमोंका सर्वप्रथम लिखित रूप है जिसे ४५१-४५० ई पू. में लोक-सभा द्वारा निर्वाचित दस सदस्यों को समितिने बनाया था । जान पड़ता है कि ये नियम पुराने

नागरिक कर्त्तव्य, पढ़ने-लिखने और गणितकी शिक्षा दी जाती थी। कन्याओंको केवल घरके कामकी शिक्षा दी जाती थी।

जब रोमवालोंने यूनानको जीता तक एक उल्टी बात यह हुई कि रोमकी शिक्षा-प्रणालीपर यूनानियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों यूनानी शिक्षक रोममें आ धमके और रोमवालोंकी शुद्ध व्यावहारिक शिक्षामें साहित्य और कलाका भी समावेश हो गया। फल यह हुआ कि छोटे बच्चोंको तो यूनानी काव्य और गद्यकी शिक्षा दी जाने लगी और ऊँची कक्षाओंमें इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वक्तृत्वकला, वाक्चातुर्य और शास्त्रार्थ कलाकी। इस शिक्षाके व्यापक प्रभावसे रोममें सिसरो, सेनेका और क्विन्तिलियन जैसे प्रतिभाशील शिक्षा-शास्त्री और प्रवक्ता उत्पन्न हुए। धड़ाधड़ विद्यालय खुलने लगे और थोड़े ही समयमें रोम-साम्राज्यमें शिक्षाका प्रशस्त प्रसार हुआ। इसी बीच सहसा ट्यूटोनी दस्युओंने आक्रमण करके रोम साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर डाला और यूनानी तथा रोमी शिक्षा शास्त्रियोंके परिश्रमपर पानी फिर गया।

नियमोंके संग्रह मात्र हैं जो व्यवहार और रूढ़िके आधारपर बनाए गए थे। ये निमय व्यक्तिगत संपत्तिसंबंधी अधिकारों के विषयमें इतने स्पष्ट बने कि न्यायाधीश लोग उनका कोई दूसरा अर्थ लगाकर अन्याय करनेकी भूल नहीं कर सकते थे।

इस बर्बर आक्रमणका अत्यन्त भयानक दुष्परिणाम यह हुआ कि यूनान और रोमकी वह प्रशस्त शिक्षा-पद्धति फिर पनप ही नहीं पाई, उसका अन्त हो गया।

योरोपमें ईसाई पादरियोंका जब बोलबाला हो गया तब उन्होंने केवल धार्मिक व्यवस्था पर ही प्रभुत्व नहीं जमाया वरन् उन्होंने शासन व्यवस्थापर भी अधिकार कर लिया। उनके अनुसार जीवनका उद्देश्य यही था कि सब लोग साधु-वृत्ति धारण कर लें और संसारकी सब वस्तुओंसे विरक्त हो जायं। इसलिये शिक्षाका भी उद्देश्य हो चला परलोककी साधनाके लिये तैयारी करना। ईसाई मठोंमें इस प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी और वहाँके सभी विद्यार्थी अपना अधिकांश समय प्रार्थना और ध्यानमें लगाने लगे। प्राचीन धार्मिक शिक्षाओं और ग्रन्थोंका आदर होने लगा और इन ईसाई मठोंमें रहने और पढ़नेवाले छात्र इन ग्रन्थोंकी सुन्दर कलात्मक प्रतिलिपि करना ही अपना सौभाग्यवर्द्धक व्यवसाय समझने लगे। इस कार्यमें दक्षता प्राप्त करनेके लिये नये मूँडे हुए चेलोंको पढ़ना, लिखना, गाना, गिरजाघरमें पूजा करना और साधारण सा गणित सिखाया जाने लगा। इसके पश्चात् उन्हें विद्यात्रयी [लैटिनका व्याकरण, भाषण-कला तथा तर्कशास्त्र] और ज्ञान चतुष्टय [गणित, ज्यामिति, ज्योतिष और संगीत] सिखानेकी व्यवस्था की गई और इस प्रकार सप्त ज्ञानविस्तारक कलाओंके शिक्षणका क्रम चलने लगा।

धार्मिक व्यूहसे मुक्त व्यक्तियोंने इन ज्ञानविस्तारक कलाओं से भले ही कुछ लाभ उठाया हो किन्तु इनका वास्तविक उद्देश्य धार्मिक अभ्युत्थान ही था यहाँतक कि अलकुइनके नेतृत्वमें चार्लमैग्नेने जो इस सम्बन्धमें प्रयास किए वे भी शिक्षाके उद्देश्यको बहुत नहीं बदल पाए। उनकी मृत्युके समयतक पढ़े—लिखे लोग केवल पादरी ही होते थे। साधारण जन, यहाँतक कि कुलीन वर्ग भी नाम मात्रकी शिक्षा पाते थे। कुलीन वर्गको जो शिक्षा दी जाती थी उसे शिक्षाके बदले साहसपूर्ण नागरिकता या संक्षेपमें नारी-सेवा कहा जा सकता है। किसी भी युवकको प्रारंभमें किसी सरदारके या किसी महिलाके साथ उसका सेवक होकर रहना पड़ता था, उसे काव्य और संगीतकी शिक्षा दी जाती थी और चतुरंग [शतरंज] खेलना सिखाया जाता था। कुछ और बड़े होनेपर उसे सैनिक शिक्षा दी जाती थी और आखेट करना, घोड़ा चढ़ना, घोड़ेपर चढ़कर भालेसे द्वन्द्व-युद्ध करना, तैरना और गाना सिखाया जाता था, साथ ही ईसाई धर्मका भी उसे ज्ञान कराया जाता था। जब वह स्वयं सरदार बन जाता था तब उसे कर्त्तव्य शास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी, सद्गुणोंका अभ्यास करना सिखाया जाता था और ईसाई धर्म तथा महिलाओंकी रक्षाका पाठ दिया जाता था।

ईसाई मठोंके विद्यालयोंमेंसे ही एक नये प्रकारका विद्वन्मंडल आविर्भूत हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि धर्म

की समुन्नतिके निमित्त यूनानी भाषाका प्रयोग किया जाय। इन लोगोंने तर्कवादको बड़ा महत्त्व दिया जिसके अध्ययनका यह उद्देश्य था कि उसके द्वारा नये ज्ञानतत्त्वोंकी खोज करनेके बदले प्राचीन ज्ञानतत्त्वोंका समर्थन किया जाय और उन्हें सत्य प्रमाणित किया जाय। इन लोगोंने अरस्तू और उसके ग्रन्थोंको ही ज्ञानका मूल मान लिया और अपनी सारी शक्ति उन्हींका अध्ययन करने और उन्हींको सिद्ध करनेमें लगा दी।

ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियोंमें कारीगरों, मिस्त्रियों और व्यापारियोंकी चेष्टासे बहुतसे छोटे छोटे गाँव भी बड़े बड़े नगर बन गए। इन लोगोंने अपने अपने व्यावसायिक संघ बना लिए और इन संघोंने निश्चय कर लिया कि अपने भावी सदस्योंको शिक्षित करके ही साँस लेंगे। इन संघोंने कुछ पादरी अध्यापक नियुक्त कर लिए जो बच्चोंको पढ़ना, लिखना और गणित सिखाते थे। नगरोंमें इस प्रकारके विद्यालय खुल गए और इन संघीय विद्यालयोंमें शिक्षाकी प्रणाली यह हो गई कि बालकोंको कुछ दिनों तक किसी भी व्यवसायीके साथ रहकर उसका काम सीखना पड़ता था और काम सीखकर एक निश्चित अवधि तक उसके यहाँ काम भी करना पड़ता था।

ग्यरहवीं शताब्दीके निर्वाण कालमें और बारहवीं शताब्दीमें विश्वविद्यालय खुलने लगे। जैसे भारतवर्षमें विशिष्ट विद्वानोंकी परिषदें पीछे चलकर गुरुकुलके रूपमें

परिणत हो गई वैसे ही भी प्रारंभमें कुछ विद्यार्थी किसी विशेष विद्याके अध्ययनके लिये एकत्र होते थे जैसे सालेर्नोमें भैषज्यविद्याके लिये या बोलोनामें न्यायनीति [कानून] सीखनेके लिये और वहाँ विश्वविद्यालय बन जाता था। पैरी [पैरिस] विश्वविद्यालयका उद्भव एक गिरजाघरसे संबद्ध विद्यालयसे हुआ जो वास्तवमें अध्यापकोंका ही एक संघटन था। वहाँ पहले केवल ईसाई धर्मशास्त्र पढ़ाया जाता था। आजकलके समान अनेक भवनों और विभागोंसे युक्त लंबा चौड़ा प्रशस्त भूमिभाग उस समय विश्वविद्यालयोंको प्राप्त नहीं था। व्याख्यान सुननेके लिये भी छात्रगण किसी भलेमानुसके घरमें या किराएके भवनमें जुटा करते थे।

मध्यकालीन युगमें कला, सौन्दर्य-प्रेम, साहित्य, कविता और विज्ञानने ईसाई धर्म और गिरजाघरोंको सहायता देते हुए बड़ी उन्नति की। मुसलमानोंके हाथसे अपना धर्मदेश—ईसाका जन्मस्थान छीननेके लिये ईसाइयोंने जो सोलहवीं शताब्दीमें धर्मयुद्ध किया था उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लोगोंके विचार बदलने लगे और पादरियोंके प्रभावसे जो विषय अबतक त्याज्य समझे जाते थे वे भी पुनरुज्जीवन कालमें जाग उठे। साहित्य और ज्ञान की वृद्धिके निमित्त यूनानी और लैतिन भाषाएँ पढ़ाने जाने लगीं और शिक्षाका उद्देश्य हुआ व्यक्तिका संवर्द्धन। पादरियोंका प्रभाव घटने लगा और लोग अपने अपने नाम और यशका प्रयत्न करने लगे। यद्यपि शिक्षणका काम तो

इस समय तक भी पादरियोंके ही हाथमें था किन्तु शिक्षण-सामग्रीमें वृद्धि हो गई। पुनरुज्जीवन कालके इन अध्यापकोंने विशेषतः पेत्रार्कने भाषाकी शिक्षाको इतनी प्रधानता दे दी कि शारीरिक, सामाजिक, कलात्मक और वैज्ञानिक शिक्षाके तत्व पीछे छूट गए। किन्तु पेत्रार्कके देशवासी वित्तोरिनोद फ़ेल्त्रेने उससे असहमत होकर इतिहास और सभ्यताकी शिक्षाको अधिक महत्त्व दिया।

सुधार और प्रतिसुधार के युगमें जब धर्मके विषयमें परिवर्त्तन हुए तो शिक्षाका क्षेत्र भी उसके प्रभावसे अछूता न बच सका। ल्यूथर और मैलांशथौन दोनोंने यह माँग उपस्थित की कि राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा दी जाय और राज्यका यह धर्म हो कि वह नये विद्यालय स्थापित करके, उनका पोषण करके प्रत्येक बालकको वहाँ पढ़ानेके लिये विवश करे। इस प्रकार सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षाका शंख फूँका गया और यह कहा गया कि जनताकी तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिये प्रारंभिक पाठशालाओंमें भाषा तथा व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षाका प्रबन्ध कर दिया जाय। माध्यमिक पाठशालाओंमें अर्थात् लैतिन पाठशालाओंमें [इङ्गलैंडमें ये पाठशालाएँ लैतिन पाठशालाएँ कहलाती थीं।] उदात्त काव्य, इतिहास, सर्वगणित, व्याकरण, भाषणकला, तर्कशास्त्र, संगीत और व्यायामकी शिक्षा दी जाने लगी। कहा तो यह जाता था कि इन पाठशालाओंसे निकले हुए छात्र लोकनेता होंगे किन्तु

वास्तवमें वे सब विश्वविद्यालयोंके प्रवेशार्थी ही निकले जिनका मुख्य उद्देश्य अध्यापक या राजमन्त्री होना ही था। पुनरुज्जीवन कालने शिक्षा-क्षेत्रमें जिस उदारताकी आशा दिलाई थी वह सुधारकालमें ठंडी पड़ गई और शिक्षाका यह रूप हो गया कि उसके द्वारा उन विभिन्न सम्प्रदायोंका समर्थन किया जाने लगा जो रोमन कैथोलिकोंके विरुद्ध विद्रोह करनेके फलस्वरूप उत्पन्न हो चले थे। इन प्रोटेस्टेंटी पाठशालाओंसे मिलती जुलती जेसुइतोंकी[१] पाठशालाएँ थीं जिन्होंने शिक्षामें पूर्णता और सुशिक्षित अध्यापकोंकी नियुक्तिको इतनी महत्ता दी कि यह बात एक लोकोक्ति बन गई।

सोलहवीं शताब्दीके पिछले अर्द्धमें और पूरी सत्रहवीं शताब्दीमें शिक्षापर इस धार्मिक शासन और रूढ़िका बड़ा प्रभाव बना रहा। देखनेमें तो पाठ्यक्रम बड़ा मानवोचित था किन्तु वास्तवमें वह वैसा ही कठोर और पंडिताऊ था जैसा मध्ययुगमें।

इस शिक्षा-पद्धतिका राबैल, मिल्टन, मौन्टेन तथा सर फ्रान्सिस बेकन जैसे विद्वानोंने बड़ा विरोध किया। ये

---

१ सन् १५३३ में इग्नेतिअस लौयोला नामक ईसाई सन्तने रोमन कैथोलिक सम्प्रदायका एक नया 'जैसुइत' नामक पंथ निकाला था और उसके सदस्य अपनेको ईसाका भक्त मानते थे।

लोग यथार्थवादी या प्रत्यक्षज्ञान-वादी कहलाते हैं। इनका कथन था कि यदि साहित्यका अध्ययन करना हो तो उसके शब्द-रूपों और उसके व्याकरण-संबंधी प्रयोगों पर माथापच्ची और शास्त्रार्थ न करके उसके भाव, उसकी ध्वनि और उसके अर्थको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि प्रकृति, न्यायविधान, कला या शिल्पका अध्ययन करना हो तो उसका मौखिक शब्दबोध करनेके बदले उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण, अनुभव और प्रयोग करना चाहिए। पाठ्यक्रममें साहित्य और भाषाकी प्रधानता थी और इसका विरोध भी नहीं हुआ इसके समर्थकोंका उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा हम राष्ट्रको 'नियमित संयम' सिखा सकते हैं और इस नियमित संयमके सिद्धान्तके आचार्य हुए प्रसिद्ध अंग्रेज़ जौन लौक। उनका कहना था कि क्या सीखा या पढ़ा जाता है इसका कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व इस बातका है कि कैसे पढ़ा या सीखा जाता है। छात्रके लिये शिक्षाका फल यही है कि वह पढ़ने या सीखनेकी क्रियाके साथ साथ कितना संयम सीखता है।

पिछली शताब्दियोंमें धर्म और शिक्षाको जिन कठोर नियमों और बन्धनोंने कस लिया था उसके विरुद्ध अठारहवीं शताब्दीमें जो बड़ा प्रभावशाली विद्रोह हुआ उसका नेतृत्व किया रूशोने। उसने हाँक लगाई-'लौट चलो प्रकृतिकी ओर' जो कुछ करो प्राकृतिक ढंगसे, प्राकृतिक वातावरणमें, प्राकृतिक साधनोंके साथ—छोड़दो बालकको प्रकृतिकी

गोदमें और उसे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार बढ़ने दो, पलने दो, पनपने दो, सीखने दो।

रूशोका तात्कालिक प्रभाव तो कुछ न हुआ किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमें जो शिक्षाके आन्दोलन चले उन सभीपर रूशोके सिद्धान्तोंकी अमिट छाप थी, नियमित और आबद्ध शिक्षाके बदले बालकको प्राकृतिक ढंगसे शिक्षा देनेकी व्यवस्था होने लगी, बालककी अवस्था और उसके व्यक्तित्वका ध्यान करके उसकी शिक्षाका विधान बनाया जाने लगा। रूशोका अनुगमन किया पेस्तालोज़ीने। उसने यह व्यवस्था दी कि समुचित शिक्षा देनेके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षणीय बालककी मनोवृत्तिका भरपूर अध्ययन किया जाय और उसकी आवश्यकता, रुचि और योग्यताके अनुकूल शिक्षा दी जाय। फिर आए हरबार्ट महोदय जिन्होंने कहा कि शिक्षाको वैज्ञानिक रूपमें प्रयोग करना चाहिए और अध्यापकोंको शिक्षणकला और शिक्षण सिद्धान्तोंकी पूरी शिक्षा लेनी चाहिए। इसके पीछे आए फ्रोबेल जिन्होंने बालोद्यान [किण्डरगार्टन्] प्रणालीकी स्थापना की और यह सिद्धान्त बताया कि शिक्षाका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है स्वयंक्रिया, स्वतः प्रवृत्ति और व्यक्तित्वका विकास।

उन्नीसवीं शताब्दीमें धीरे धीरे यह सिद्धान्त प्रचलित हो रहा था कि ठीक ठीक शिक्षा वही है जो छात्रको इस योग्य बना दे कि वह प्राप्त ज्ञानका तत्काल व्यवहार कर सके। इसीके साथ साथ यह भी माना जाने लगा था कि

मानसिक या बौद्धिक विकास उन्हीं विषयोंके अध्ययनसे संभव है जिनका हमारे जीवनमें अधिक व्यवहार होता हो। हरबर्ट स्पेन्सर इस 'व्यावहारिक' शिक्षाके सिद्धान्तके प्रवर्त्तक थे। उनका कहना था कि बच्चोंको वे ही विषय सिखाए जायँ जिनसे वे अपनी जीविका उपार्जन कर सकें और भले नागरिक बन सकें। उनकी प्रेरणाके फलस्वरूप पाठशालाओंके पाठ्यक्रममें विज्ञानको भी स्थान मिल गया और जौन लौकके 'नियमित संयम' का सिद्धान्त ध्वस्त हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी तक केवल व्यक्तिकी दृष्टिसे शिक्षा-पद्धतिपर विचार किया गया था किन्तु ज्यों ज्यों व्यवसाय बढ़ने लगे और लोकतन्त्रकी भावना प्रबल होने लगी त्यों त्यों शिक्षाकी मूल भावनामें भी परिवर्त्तन होने लगा और शिक्षा शास्त्री लोग यह कहने लगे कि शिक्षा-प्रणाली कुछ इस प्रकार बनाई जाय जिसके द्वारा समाजमें व्यक्तिकी स्थितिका समन्वय हो सके। व्यक्तिको मानसिक, शारीरिक और नैतिक शिक्षाके साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा दी जाय जिससे वह व्यापार, कृषि, शिल्प आदि सीखकर अपनी जीविका कमा सके अन्यथा वह समाज और राष्ट्रपर निरर्थक भार बन जायगा। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यह आवश्यक है कि बालक तथा नागरिकके सम्मुख सभी ज्ञात साधन ला रक्खे जायँ अर्थात् ऐसे प्रारंभिक और माध्यमिक विद्यालय खोले जायँ जिनमें शिल्प और

व्यावसायकी शिक्षा दी जाती हो, ऐसे महाविद्यालय हों जिनमें सांस्कृतिक विषयोंके अतिरिक्त शिल्प-विज्ञानकी भी शिक्षा हो। इतना ही नहीं, राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको अर्थकरी विद्या ग्रहण करनेके लिये बाध्य भी किया जाय।

इस सिद्धान्तका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही विद्यालयोंके रूप और प्रकार बदल गए। मातृभाषा, पढ़ना, लिखना, गणित, भूगोल, इतिहास, तथा अन्य पहलेसे सिखाए जाते रहनेवाले परिचित विषयोंके अतिरिक्त निम्नाङ्कित नये विषय भी पाठ्यक्रममें समाविष्ट कर लिए गए—:

बढ़ईगिरी, लुहारी, रसोईदारी, सीना, छापना, चित्रकला, घरबनाना, सब प्रकारकी यन्त्रविद्या, खेती, फुलवारी लगाना, जंगल-विद्या, गौशाला, व्यावसायिक कागजपत्र सँभालना, व्यापार-ज्ञान, नागरिक शास्त्र, व्यावसायिक विधान, त्वरालेखन, टपलेखन, अर्थशास्त्र, अर्थकोश [बैंक]-विद्या, मुद्राशास्त्र, यातायात, बीमा, समाजशास्त्र, ढलाई, नपाई, यन्त्रशालाका काम, ईंट जुड़ाई, पलस्तरका काम, कताई-बुनाई, तथा अन्य शिल्प। इस प्रकार सार्वजनिक पाठ-शालाओं और विद्यालयोंके अधिकारियोंने उन अनेक शिल्पों और वृत्तियोंको अपने पाठ्यक्रममें ले लिया है जिनपर पहले व्यक्तियों या कारखानेवालोंका ही प्रभुत्व था। खेल-भूमि, बाल-रक्षक केन्द्र, मनोरंजन-स्थल तथा अन्य ऐसे क्षेत्रोंकी अधिकता होनेसे व्यक्तिकी स्वतन्त्रता संकुचित हो गई है।

राष्ट्रोंने समाजके हितकी रक्षाके लिये व्यक्तिको चारों ओरसे बाँध दिया है। इस दिशामें नवीनतम प्रयोग है अनिवार्य सैनिक शिक्षा देना। सन् १९१४ के प्रथम विश्वयुद्धने राष्ट्रोंके बीच परास्पर इतना अविश्वास उत्पन्न कर दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे लोकतंत्रवादी देशमें भी अनिवार्य सैनिक शिक्षाकी पुकार होने लगी। यह समाजवादी शिक्षा-पद्धति संसारको किधर घसीट ले जायगी यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्यक है।

संक्षेपमें हमने योरोपके शिक्षा-क्रमकी ऐतिहासिक मीमांसा इसलिये कर दी है कि जिन शिक्षाशास्त्रियोंने योरोपकी शिक्षाको समय समय पर प्रभावित किया है, जिनका सूत्र ग्रहण करके डाल्टन प्रयोगशाला पद्धति [डाल्टन लैबरेटरी प्लान], प्रयोग प्रणाली [प्रोजेक्ट मैथड] तथा मांतेसोरी पद्धति आदिका विकास हुआ है और जिनके सिद्धान्तोंसे प्रेरणापाकर विश्व-शिक्षा-पद्धति और भारतीय शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया जा रहा है उनकी प्रेरक शक्तियों और परिस्थितियोंको समझनेमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हो।

—:*:*:*:*:—

सहायकग्रन्थ

विलियम बी० आस्पिनवाला—आउटलाइन्स औफ् दि हिस्टरी औफ्ऐजूकेशन।

एफ़० पी० ग्रेव्ज—ग्रेट एजुकेटर्स औफ् थ्री सेन्चुरीज़, हिस्टरी औफ़ एजुकेशन बिफ़ोर दि मिडिल एजेज़, हिस्टरी औफ़ एजुकेशन ड्यूरिंग दि मिडिल एजेज़, हिस्टरी औफ़ एजुकेशन इन मौडर्न टाइम्स।

पी० मोनरो—सोर्सबुक इन दि हिस्टरी औफ़ एजुकेशन।

पौल मोनरो—ए टैक्स्टबुक इन दि हिस्टरी औफ़ एजुकेशन

एजुकेशन रिव्यू [१८६१–१६०७] में बिब्लिओग्रैफ़ी औफ़ एजुकेशन।

जेम्स सलीवन—हिस्टरी औफ़ एजुकेशन पर एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकानामें लेख।

योरोपीय शिक्षाका आदिकाल

विकासके किस क्रमसे योरोपने अपने वन्य जीवनका परित्याग करके सभ्यता और लोकवृत्ति अपनाई इसका कोई प्रामाणिक इतिहास न तो उपलब्ध है न उपलब्ध होना संभव ही है किन्तु यह निश्चय है कि योरोपके देशोंमें यूनान ही पहला देश है जहाँ सर्वप्रथम शिक्षाकी नियमित, संयत और व्यापक व्यवस्था की गई। आरंभमें सभी लोग अपने अपने 'स्व' को उन्नत और तृप्त रखनेका प्रयत्न करते रहे और उस स्वतृप्ति और स्वोन्नतिकी भावनाको अधिक बलवती

बनानेके फेरमें पूराका पूरा यूनानी राष्ट्र इतना व्यक्तिवादी बन गया, कि अपने व्यक्तित्वका स्वतंत्र विकास करना ही उनका ध्येय हो गया और सिद्धान्ततः वे यह मानने लगे कि यदि सभी राष्ट्रके व्यक्ति अपने 'स्व' को नियमित ढंगसे पूर्ण करलें तो उनकी समष्टिसे युक्त राष्ट्र भी स्वतः वीर्य-वान्, शक्तिशाली और समुन्नत हो सकेगा। वे अतीतके गीत गाते रहने की अपेक्षा भविष्यके लिये सुसन्नद्ध होनेकी ओर अधिक ध्यान देने लगे और इस आकांक्षाने उन्हें इस आदर्शकी ओर प्रवृत्त किया कि मनुष्यकी स्वाभाविक रतिमें जो श्रेष्ठाता दिखाई पड़ती जाय उसके अनुकूल मनुष्यको अपना विकास करते चलना चलना चाहिए। यद्यपि ईसासे कई शताब्दी पहले यूनानमें शिक्षाक्रम प्रारंभ हो चुका था किन्तु ईसासे पाँच शताब्दी पूर्व इस शिक्षा-सिद्धान्तने यूनानियोंको इतना प्रभावित कर दिया था कि पेरिक्लेस् के समयतक उसकी पूर्ण रूपसे स्थापना हो चुकी थी।

यूनानमें दो राज्य प्रधान थे एक एथेन्स दूसरा स्पार्त्ता। स्पार्त्तावाले प्रारंभसे ही युद्धमें पले थे। रात दिन उनके चारों ओर रहने वाले लोग उनसे लड़ते-भिड़ते रहते थे और उनके लिये यह अनिवार्य हो गया कि उन्हें स्वदेश-प्रेम, शारीरिक शक्ति और युद्ध कौशलकी शिक्षा दी जाय। इसलिये शक्ति, साहस और आज्ञापालन ही शिक्षाके उद्देश्य मान लिये गए और उसीके साँचेमें उनकी शिक्षाका-क्रम भी ढाला जाने लगा। स्पार्त्ती शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य ही था राज्यकी

सेवा करना और इसलिये व्यक्तिके अधिकारोंका वहाँ कोई महत्त्व नहीं था। बालकके जन्म लेते ही उसपर राज्यका शासन प्रारंभ हो जाता था। बड़े-बूढ़ोंकी पंचायत मिलकर नवजात शिशुका परीक्षण करती थी और यदि वह कहीं दैवदुर्विपाकसे रोगी या विकलांग निकला तो उसे मरनेके लिये पहाड़ोंपर डाल आते थे, जहाँ वह भूख प्यास गर्मी सर्दी और वर्षाका आखेट होकर समाप्त हो जाता था। किन्तु यदि उसकी आकृति कुछ तेजःपूर्ण हुई और वह स्वस्थ दिखाई पड़ा तो वह नियमित रूपसे राज्यका आश्रित कर लिया जाता था और सात वर्षकी अवस्थातक पालित-पोषित होनेके लिये माताके पास छोड़ दिया जाता था। सात वर्ष पार करते ही उसे एक राजपुरुषके अधीन रहकर सार्वजनिक पड़ावोंमें खाना-सोना पड़ता था और नियमित रूपसे विशेष संयम और सैनिक व्यायामकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। उसे चौकियों पर सोना पड़ता था, नाम मात्रके कपड़ों में काम चलाना पड़ता था। थोड़ा भोजन मिलता था और मलखंभ आदि फुर्तीले व्यायामका क्रमिक अभ्यास करना पड़ता था। गेंद खेलने, नाचने और पंचखेल [दौड़ना, कूदना, चक्रोत्क्षेपण, भाला फेंकना, और मल्लयुद्ध] के अतिरिक्त मुक्का-मुक्की और विपत्ति-दमनके अभ्यासकी भी अनुज्ञा थी, जिसके अनुसार लात लगाकर, धक्का देकर, दाँतसे काटकर, दाँवपेंच से गिराकर या मुक्कोंसे मारकर शत्रुको हरा देना भी उचित समझा जाता था।

बनानेके फेरमें पूराका पूरा यूनानी राष्ट्र इतना व्यक्तिवादी बन गया, कि अपने व्यक्तित्वका स्वतंत्र विकास करना ही उनका ध्येय हो गया और सिद्धान्ततः वे यह मानने लगे कि यदि सभी राष्ट्रके व्यक्ति अपने 'स्व' को नियमित ढंगसे पूर्ण करलें तो उनकी समष्टिसे युक्त राष्ट्र भी स्वतः वीर्यवान्, शक्तिशाली और समुन्नत हो सकेगा। वे अतीतके गीत गाते रहने की अपेक्षा भविष्यके लिये सुसन्नद्ध होनेकी ओर अधिक ध्यान देने लगे और इस आकांक्षाने उन्हें इस आदर्शकी ओर प्रवृत्त किया कि मनुष्यकी स्वाभाविक ग तिमें जो श्रेष्ठाता दिखाई पड़ती जाय उसके अनुकूल मनुष्यको अपना विकास करते चलना चलना चाहिए। यद्यपि ईसासे कई शताब्दी पहले यूनानमें शिक्षाक्रम प्रारंभ हो चुका था किन्तु ईसासे पाँच शताब्दी पूर्व इस शिक्षा-सिद्धान्तने यूनानियोंको इतना प्रभावित कर दिया था कि पेरिक्लेस् के समयतक उसकी पूर्ण रूपसे स्थापना हो चुकी थी।

यूनानमें दो राज्य प्रधान थे एक एथेन्स दूसरा स्पार्त्ता। स्पार्त्तावाले प्रारंभसे ही युद्धमें पले थे। रात दिन उनके चारों ओर रहने वाले लोग उनसे लड़ते-भिड़ते रहते थे और उनके लिये यह अनिवार्य हो गया कि उन्हें स्वदेश-प्रेम, शारीरिक शक्ति और युद्ध कौशलकी शिक्षा दी जाय। इसलिये शक्ति, साहस और आज्ञापालन ही शिक्षाके उद्देश्य मान लिये गए और उसीके साँचेमें उनकी शिक्षाका-क्रम भी ढाला जाने लगा। स्पार्त्ती शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य ही था राज्यकी

सेवा करना और इसलिये व्यक्तिके अधिकारोंका वहाँ कोई महत्त्व नहीं था। बालकके जन्म लेते ही उसपर राज्यका शासन प्रारंभ हो जाता था। बड़े-बूढ़ोंकी पंचायत मिलकर नवजात शिशुका परीक्षण करती थी और यदि वह कहीं दैवदुर्विपाकसे रोगी या विकलांग निकला तो उसे मरनेके लिये पहाड़ोंपर डाल आते थे, जहाँ वह भूख प्यास गर्मी सर्दी और वर्षाका आखेट होकर समाप्त हो जाता था। किन्तु यदि उसकी आकृति कुछ तेजःपूर्ण हुई और वह स्वस्थ दिखाई पड़ा तो वह नियमित रूपसे राज्यका आश्रित कर लिया जाता था और सात वर्षकी अवस्थातक पालित-पोषित होनेके लिये माताके पास छोड़ दिया जाता था। सात वर्ष पार करते ही उसे एक राजपुरुषके अधीन रहकर सार्वजनिक पड़ावोंमें खाना-सोना पड़ता था और नियमित रूपसे विशेष संयम और सैनिक व्यायामकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। उसे चौकियों पर सोना पड़ता था, नाम मात्रके कपड़ों में काम चलाना पड़ता था। थोड़ा भोजन मिलता था और मलखंभ आदि फुर्तीले व्यायामका क्रमिक अभ्यास करना पड़ता था। गेंद खेलने, नाचने और पंचखेल [दौड़ना, कूदना, चक्रोत्क्षेपण, भाला फेंकना, और मल्लयुद्ध] के अतिरिक्त मुक्का-मुक्की और विपत्ति-दमनके अभ्यासकी भी अनुज्ञा थी, जिसके अनुसार लात लगाकर, धक्का देकर, दाँतसे काटकर, दाँवपेंच से गिराकर या मुक्कोंसे मारकर शत्रुको हरा देना भी उचित समझा जाता था।

स्पार्त्ताकी शिक्षा

स्पार्ताके बालकोंको बौद्धिक शिक्षा नाम-मात्रको ही मिलती थी। वे लोग—लुकरगरस [लाइकरगस] और हमेरस [होमर] की रचनाओंके कुछ संकलन रट लेते थे, उन्हीं का पारायण कर लिया करते थे और सार्वजनिक भोजनालयों में भोजनके समय बैठ कर बड़े-बूढ़ोंकी बातचीत सुना करते थे। वहाँ उनकी बुद्धि-की परीक्षाके लिए जो प्रश्न किए जाते थे उनका संक्षिप्त और युक्तियुक्त उत्तर देनेकी शिक्षा भी वे वहीं पाते चलते थे। प्रत्येक प्रौढ के लिये आवश्यक था कि वह सदा-किसी श्रोता युवकको अपने साथ रक्खे जिसे वह निरन्तर—अनुप्राणित और उत्साहित करता रहे।

जब युवक १८ वर्षका हो जाता था तब वह नियमित रूप से युद्ध-कला सीखने लगता था। दो वर्ष तक उसे शस्त्र और युद्ध-विद्याकी शिक्षा दी जाती थी, और प्रति दसवें दिन उसे अरतेमिस की वेदी पर पहुँच कर कोड़े खा-खाकर अपने साहस और स्वास्थ्यकी परीक्षा देनी पड़ती थी। इस शिक्षण—अवधिके पश्चात् वह नियमित रूपसे सेनामें भरती हो जाता था और दस वर्ष तक किसी सीमान्तके दुर्गकी रक्षा करते हुए अत्यन्त कठोर जीवन व्यतीत करता था। तीस वर्ष पूरे कर लेनेके पश्चात् ही वह मनुष्य समझा जाने लगता था और उसे तत्काल विवाह कर लेनेके लिये बाध्य कर दिया जाता था। किन्तु विवाह करके भी वह खुल

कर अपनी पत्नी से नहीं मिल सकता था। वह लुक-छिप कर चोरीसे अपनी पत्नीसे मिलता-जुलता था और उसका कर्तव्य था कि अपनी अवस्थासे छोटे लड़कोंमें रह कर उनकी शिक्षामें सहायता करे।

स्पार्तामें कन्याओंकी शिक्षा भी पुरुषोंके समान ही होती थी। यद्यपि वे रहतीं तो घर पर ही थीं किन्तु उन्हें भी पुरुषों के समान ही शारीरिक-शिक्षा दी जाती थी जिससे वे बलवान पुत्रों की माता बन सकें।

इस शिक्षा-प्रणाली का परिणाम यह हुआ कि वहाँ के युवक-युवतिजन बलवान योद्धा और राजभक्त नागरिक तो बन गए, किन्तु उदात्त मानवता के गुण उनमें न आ पाए। क्योंकि सभ्यताकी अभिवृद्धि करनेवाले कला, साहित्य और दर्शनादि विषयोंके ज्ञानसे उन्हें शून्य रक्खा गया और इसी-लिये जहाँ स्पार्ताने अगणित वीरता के उदाहरण उपस्थित किए हैं वहीं मूर्खता और उजड्डपनके भी कम उदाहरण नहीं उपस्थित किए।

एथेन्सकी प्रारंभिक शिक्षा

प्रारंभमें एथेन्समें भी स्पार्ता जैसी ही शिक्षा दी जाती थी जिसका उद्देश्य था राज्यकी सेवा और जिसमें व्यक्तिगत स्वत्वोंकी कोई गणना नहीं थी। किन्तु उन्हीं दिनों एथेन्स ने यह अनुभव कियाकि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण वैयक्तिक समुन्नति कर सके तो इन विशिष्ट समुन्नत नाग-

रिकों द्वारा समष्टि रूप से राज्यकी भी उन्नतिहो सकती है। इसलिये एथेन्सी-बालकोंको ७ वर्षकी अवस्था में ही दो प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी। एक तो पलैस्त्रा [मल्ल-शाला] में पंचांगी शारीरिक-शिक्षा [१ दौड़ने, २ कूदने, ३ चक्र फेंकने, ४ भाला चलाने और ५ मल्ल-युद्ध करनेकी शिक्षा] दी जाती थी। दूसरी ओर दिदसकलेइम् [संगीतालय] में उन्हें गाना, वीणा बजाना और पढ़ना-लिखना सीखना पड़ता था। रेते पर उँगलीके सहारे लिखवा लिखवा कर अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर चुकने पर उन्हें मोमकी पाटियों पर लोहेकी लेखनीसे और फिर कलम-स्याहीसे चर्मपत्रपर प्रसिद्ध कवियों और लेखकोंके पद्य तथा संकलित अंशोंकी प्रतिलिपि करनी पड़ती थी। गीत सीखते समय विद्यार्थीको लय और तालकी भी शिक्षा दी जाती थी और कविताका अध्ययन करते समय पद्यके भावार्थ समझना भी आवश्यक समझा जाता था। इस प्रकार अध्यापकों द्वारा बताए हुए अर्थों और भावोंके द्वारा उस समयकी सारी विद्या बालक सीख लेते थे। फल यह होता था कि इस प्रकारकी शिक्षा से उनकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति निरन्तर होती ही रही। उन दिनों एक यह भी बड़ी विचित्र प्रथा थी कि प्रत्येक बालकके साथ एक पैदागोगस [प्रौढ़दास] भी रहा करता था जो बालक के साथ साथ उसकी वीणा आदि अन्य सामग्रियोंको भी पाठशाला ले जाया करता था। वही प्रौढ़दास बालकको

आचार-व्यवहार और शिष्टाचारकी शिक्षा भी दिया करता था।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें एथेन्सी बालकको यह स्वतंत्रता थी कि वह एथेन्ससे बाहर जिमनेज़िया [व्यायामशाला] में जाकर और भी अधिक शारीरिक-शिक्षा प्राप्त करे। उसे सामाजिक–जीवनमें प्रवेश करके सब कहीं आने-जाने और प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त करने की भी आज्ञा थी। अट्ठारह वर्षकी अवस्थामें उसे एथेन्सके प्रति राजभक्ति रहनेकी शपथ लेनी पड़ती थी और दो वर्ष तक सैनिक विद्यार्थीके रूपमें सैनिक-कर्तव्य सीखने पड़ते थे। इनमें से पहला वर्ष तो उसे एथेन्सके पास पड़ोसकी नगर सेनामें बिताना पड़ता था और दूसरे वर्ष उसे सीमान्तके किसी दुर्गमें जाकर रहना पड़ता था। बीस वर्षकी अवस्थामें वह पक्का नागरिक हो जाता था किन्तु नागरिक होने पर भी वह नाट्यकला, वास्तुकला मूर्तिकला तथा अन्य कलाओं की शिक्षा निरन्तर प्राप्त करता रहता था।

अथीनियोंने कन्याओंकी शिक्षा पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे समझते थे कि घर-गिरस्तीके कामोंके अतिरिक्त कन्याओंको अन्य किसी प्रकारकी शिक्षाकी आवश्यकता ही नहीं है। इस भेद के अतिरिक्त अथीनियोंकी शिक्षा पद्धति स्पार्टा वालोंसे कहीं अधिक उन्नत थी क्योंकि इसमें वैयक्तिक विकासके लिये बहुत अधिक अवसर था।

शिक्षामें व्यक्तिवाद

शनैः शनैः यह नवीन वैयक्तिक शिक्षा निरन्तर बल पकड़ती गई और उसने समष्टिका ध्यान छोड़ कर व्यक्तिकी उन्नतिको ही अपना प्रधान धर्म समझ लिया। यहां तक कि कला और विद्याको ग्रहण करते समय उन्होंने यह भी विचार करना छोड़ दिया कि इसकी कोई सामाजिक उपयोगिता भी है या नहीं। उन दिनों सभीको राजनीतिक नेता बनने की चाट पड़ गई थी और इसीलिये लोग वाक्-चातुर्य तथा व्याख्यान-कलाकी ओर अधिक झुकने लगे थे।

इस नयी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देनेके लिये एक नये प्रकारके अध्यापक निकल पड़े जो सोफ़िस्ट या तर्कवादी [वास्तवमें मिथ्या तर्कवादी] कहलाए जाने लगे। ये अध्यापक राजनीतिक वृत्ति ग्रहण करने वाले युवकोंको ही शिक्षा देते थे। इनमेंसे कुछ तो ऐसे गर्वीले थे जो कहते थे कि हमसे जो विषय चाहो पढ़लो और किसी भी विषय का कोई भी पक्ष समर्थन करना सीख लो। ये लोग एथेन्सकी पद्धतिके विपरीत, शिक्षार्थियों से शुल्क भी लेते थे। इन बातोंसे पुराने विचारके लोग बहुत भड़कने लगे। किन्तु समयकी गतिके आगे उनका कोई वश नहीं चला। जो युवक व्यायामशाला में जाकर पहले डंड बैठक लगाते थे अब भाषण कला और व्याकरण का सूक्ष्म अध्ययन करने लगे। यह उत्सुकता यहाँ तक बढ़ी कि जहाँ सड़क पर कोई तर्कवादी

गुरु दिखाई दिया कि झुंडके झुंड युवक उसे चारों ओरसे घेर लेते और कुछ न कुछ नया ज्ञान खोद निकालनेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा देते थे। मल्लशालाएँ सूनी पड़ी रहने लगीं। अब लोग उधर केवल व्यक्तिगत स्वास्थ्य वृद्धिकी दृष्टि से ही जाते थे। संगीतालयमें भी अब होमरकी रचनाओं के साथ-साथ नीति, काव्य, भावात्मक रचना और गीत काव्य भी सिखाए जाने लगे, सात-तार-वाली वीणा के साथ गाए जाने वाले देश भक्ति और धर्मगीतोंके स्थान पर अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्र और जटिल रागोंका भी शिक्षण होने लगा।

उधर प्राचीन-पंथी लोग भी चुप नहीं बैठे थे। उन लोगोंने प्राचीन शिक्षा-पद्धतिको पुनरुज्जीवित करनेके लिये नवीन योजनाएँ बनानी प्रारंभकीं। इन प्राचीनतावादियों में पुथगोरस (पाइथागोरस ५८०—ई० पूर्व) मुख्य था। उसने एक ऐसी योजना बनाई जिससे प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपना उचित स्थान भी ग्रहण करे और सबके समन्वय से एक पूर्णतः सुखी सामाजिक-व्यवस्था भी चल निकले। उधर प्रसिद्ध व्यंग्य कवि अरिस्तोफ़नेसने [४४३ से ३८० ई० पूर्व] तत्कालीन अवस्था पर—अनेक व्यंग्यात्मक रचनाएं लिख डाली थीं किन्तु उनका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। इसी बीच यूनानमें तीन आचार्य प्रकट हुए-सुकरात, अफ़लातून और अरस्तू। तर्कवादियोंके समान ही इन्होंने भी अनुभव किया कि परम्परागत विश्वास, प्राचीन

सामाजिक व्यवस्था और पुरानी शिक्षा के आदर्श अब काम नहीं देसकते और उनके द्वारा अब युवकोंको नीति और सत्यकी शिक्षा नहीं दी जा सकती किन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि तर्कवादियोंका मार्ग भी कुछ कम भयानक नहीं है इसलिये ज्ञान एवं नीतिका कोई सामाजिक मान अवश्य स्थिर करना चाहिए।

सुकरात

इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये सुकरातने एक मध्यम मार्ग निकाला और कहाकि,मनुष्य केवल व्यक्ति मात्र नहीं है, वह पूर्ण मानवता है। किसी भी व्यक्तिकी कोई विशिष्ट सम्मति सत्यका प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् वह उस ज्ञानका प्रतिनिधित्व करती है जो सबके लिये समान है। जिसे तर्कवादी व्यक्तिगत दृष्टि से ज्ञान कहते हैं वह वास्तव में सम्मति हैं क्योंकि ज्ञान तो सार्वभौम सत्य होता है किसी एककी बपौती या सम्पत्ति नहीं।

सुकरातका विश्वास था कि यदि हम लोग-व्यक्तिगत मतभेद छोड़ दें और जिन आधारों पर सब लोग एक मत हों उन्हें ही केवल खोल कर रख दें तो हमें अवश्य सार्वभौम ज्ञान-लाभ हो सकता हैं। उसके अनुसार प्रत्येक दार्शनिक और अध्यापकका यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तिको इस योग्य बनावेकि वह ऐसे सार्वभौम आधारोंका प्रत्यक्षीकरण करे। इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये सुकरातने शिक्षाके

लिये एक नई प्रश्नोत्तरी पद्धति आविष्कृतकी। पद्धति यह थी कि वह युवक से मिलता था। उससे उसके मनकी धारणा पहले कहला लेता था और फिर लगातार ऐसे प्रश्न करता था कि वह बेचारा स्वयं आत्म-विरोधी बातें कहने लगता था। यहाँतककि अन्तमें उसे विश्वास हो जाता था कि मेरी धारणा अपूर्ण तथा भ्रान्त है। इस प्रकारके प्रश्नोंसे सुकरात सिद्ध कर देता था कि वह युवक जिस बातको अपनी ज्ञान-धारणा बताता था वह केवल सम्मति मात्र है।

सुकरातका यह भी मत था कि उचित ज्ञानको ही नीति कहते हैं और इसीलिये वह किसी कार्यके ज्ञान और उस कार्यको पूर्ण करने की प्रवृत्ति दोनोंमें कोई अन्तर नहीं मानता था इस प्रकार उसने ज्ञान समुन्नत करनेके अपने अभिनव उपायोंसे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकारकी समुन्नति का मधुर समन्वय करके शिक्षाके क्षेत्रमें एक नये मार्गका प्रवर्त्तन किया।

अफ़लातून

किन्तु प्राचीनतावादी लोगोंको सुक़रातकी यह चाल अच्छी न लगी। उन्होंने सुक़रातको नास्तिक और अनैतिक घोषित करके उसे विष दिला कर मरवा डाला। किन्तु उसके शिष्य अफलातून [प्लेटो ४२७ से ३४७ ई० पूर्व] ने अपने गुरु का काम चलाए रक्खा। उसका मत है कि साधारण जनता बुद्धि शून्य होती है और उसमें ज्ञानप्राप्त करनेकी

समर्थता ही नहीं होती। वह तो केवल मत पर चलती है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ जनतंत्र [दि रिपब्लिक] में उसने सिद्ध किया है कि कोई भी आदर्श राज्य तभी स्थिर रह सकता है जब उसका कुल शासन-प्रबंध दार्शनिकों या बुद्धिशील वर्गके हाथमें रहे, क्योंकि वास्तविक ज्ञान उन्हींको होता है। उसने शिक्षाका क्रम इस प्रकार रक्खा है। १८ वर्षकी अवस्था तक सब विधार्थियोंको वैसी ही शिक्षा दी जानी चाहिए जैसी यूनानमें थी अर्थात् [१] अस्त्र—शिक्षा [२] साहित्य-संगीत शिक्षा और [३] व्यायाम शिक्षा । पर इसमें से कुछ तो साहित्यका अंश कम कर दिया जाय और संगीतकी शिक्षाभी कुछ थोड़ेसे सरल रागों और वाद्ययंत्रोंके अभ्यास तक ही परिमित रहे। इस प्रारंभिक शिक्षाके आगे जो युवक बढ़ सकते हों उहें अट्ठारह और बीसकी अवस्था के बीच सैनिक-शिक्षा भी ग्रहण करनी चाहिए किन्तु जो आगेकी शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हों उन्हें व्यावसयिक वर्गमें भेज देना चाहिए। सैनिक शिक्षा के समय भी विद्यार्थियोंकी परीक्षा करके यह निश्चय कर लेना चाहिएकि उनमें से दार्शनिक श्रेणी तक पहुंचने वाले कितने विद्यार्थी हैं। ऐसे विद्यार्थियोंको उच्च-शिक्षा के लिये अलग छाँटकर शेप सबको सेनामें भेज देना चाहिए।

एथेन्सकी शिक्षा पद्धति के अनुसार शिक्षाकी अवस्था बीस वर्ष तक ही परिमित थी इसलिये अफ़लातूनने इससे

आगेके लिये एक नये पाठयक्रमका विधान किया, जिसके अनुसार भावी दार्शनिकोंको भविष्य समझने और भविष्य-वाणी करनेका अभ्यास प्राप्त हो।

इस दार्शनिक पाठ्यक्रमको भी अफ़लातून ने इस प्रकार श्रेणीवद्ध कर दिया था कि शिक्षार्थीकी बौद्धिक और नैतिक शक्ति का भी निरन्तर परीक्षण होता चले। इस पाठ्याक्रमके अनुसार पहले दस वर्षों तक गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्यौतिषकी शिक्षा दी जानी चाहिए और वह भी व्यावहारिक ज्ञानके लिये नहीं वरन् केवल सार्वभौम . संबंधके परिज्ञान के लिये, क्योंकि उन्हींके द्वारा भावात्मक विचारोंकी विवृद्धि हो सकती है। इसके पश्चात् तीस वर्षकी अवस्था में जो युवक आगे बढ़ता न दिखाई दे उसे राज्य के छोटे मोटे विभागोंमें डाल दिया जाय और जो आगे बढ़ सकें उन्हें भाषण-शास्त्र या तर्क-शास्त्र सिखलाया जाय इस प्रकारकी शिक्षाके पश्चात् उन दार्शनिकोंका यह कर्तव्य हो कि वे पचास वर्षकी अवस्था तक राज्यका संचालन और पथ-प्रदर्शन करें। इसके पश्चात् वह चाहें तो वानप्रस्थ लेकर एकान्त जीवन व्यतीत करें।

इस प्रकार जहाँ सुकरातने प्रत्येक व्यक्तिमें सार्वभौम सत्यका आधार माननेकी उदारता दिखाई वहाँ अफ़लातूनका मत है कि केवल विशिष्ट मेधा-संपन्न लोग ही वास्तविकज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये वह चाहता है कि राज्य—शासनका संचालन केवल दार्शनिकों द्वारा होना चाहिए

और इसी उद्देश्यको ध्यानमें रखकर शिक्षा देनी चाहिए। इसीलिये उसके लोकतन्त्र [रिपब्लिक] में मनुष्यकी इच्छा अमान्य कर दी गई और इस बातको वह भूल गयाकि प्रत्येक व्यक्तिमें समस्त मानवीय विशेषताएं विद्यमान होती हैं। फलतः अफ़लातूनके सिद्धान्तनोंको लोगोंने काल्पनिक उड़ान मात्र समझा और उसे कोई महत्त्व नहीं दिया। इसीलिए अपने जीवनके अन्तिम वर्षमें अफलातून नेनियम [दि लौज़] नामका एक व्यावहारिक सम्वाद लिखा था जिसमें उसने स्पार्त्ता और एथेन्सकी शिक्षा-प्रणालियोंके तत्त्व ग्रहण करके पाइथागोरसके सिद्धान्तोंके अनुसार रूढ़ि और आदर्शके पालन करनेकी पाठकोंको प्रेरणा दी। इसमें उसने दार्शनिकोंके बदले पुरोहितोंको लोक गुरु और शिक्षा-गुरु बना दिया और पाठ्यक्रममें सर्व गणितको ही ज्ञानकी परमावधि बना कर तर्कवादको एक दम छोड़ दिया।

अरस्तू

पुरातन और नवीनका सौम्य-सामंजस्य करनेका श्रेय मिला अफ़लातूनके शिष्य अरस्तू [३८६-३२२ ई० पूर्व] को उसने अपने पितासे वैद्यक सीखी और अफलातूनसे विज्ञान की शिक्षा ली। अपने 'राजनीति' [पौलिटिक्स] नामक ग्रन्थ में उसने आदर्श राज्य और नागरिककी शिक्षा पर सुन्दर विवेचन किया है उसने यह परिणाम निकाला है कि यद्यपि

सिद्धान्ततः सबसे अच्छा शासन एकतंत्र ही होता है किन्तु शासितोंकी भलाईके लिए सबसे अच्छा लोकतंत्र ही है। उसके पश्चात् उसने राज्य की स्वाभाविक और सामाजिक स्थितियोंका विवेचन किया है और इसी संबंधमें उसने कहा है कि नागरिकको इस प्रकारकी शिक्षा दी जाय कि वह सज्जन और धर्मात्मा बने।

क्योंकि सद्गुण दो प्रकारके होते हैं नैतिक या व्यावहारिक और बौद्धिक या भावात्मक जिनमें नैतिक या व्यावहारिक सद्गुणों से ही हम बौद्धिक या भावात्मक सद्गुणों तक पहुँचते हैं, इसलिये सम्पूर्ण राज्यमें सद्गुणों का समावेश करनेके लिये यह आवश्यक है कि लोगोंको स्पार्त्तामें दी जानेवाली केवल सैनिक या साधारण व्यवहार की ही शिक्षा देकर इति न कर दी जाय। इसलिये शिक्षा-क्रम निर्धारित करते हुए अरस्तूने कहा है कि आत्माका संस्कार कहने से पहले शरीरका संस्कार करना आवश्यक है। यह सिद्धान्त हमारे देशके 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" के सिद्धान्तसे मिलता-जुलता है। अरस्तूके अनुसार आत्माका संस्कार होना चाहिए विवेकके लिये और शरीरका होना चाहिए आत्माके लिये।

शारीरिक उन्नतिके संबंधमें उसका विचार है कि बालकके जन्म से पहले ही नियामकोंको यह निश्चित कर देना चाहिए की भावी बालककी शिक्षा किस प्रकारकी होगी और किस अवस्थामें उसे विवाह करना होगा। अरस्तूका

यह भी मत है कि यदि बालक दुर्बल या विकलांग हो तो उसे पहाड़ पर मर जानेके लिये छोड़ दिया जाय। उसके अतिरिक्त भोजन वस्त्र और व्यायामके संबंध में अरस्तूने जो सुझाव दिए हैं वे आधुनिक स्वास्थ्य-सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हैं। अरस्तूके अनुसार शारीरिक शिक्षा तो नियमित अध्ययनके लिये तैयारी मात्र है जो ७ वर्ष से २१ वर्षकी अवस्था तक चलनी चाहिए। इसमें से पहला भाग कुमार अवस्था का है जिसमें आत्माके विवेकर हित यास्वतः-प्रवृत्तिपक्ष की शिक्षाके लिये है और दूसरा किशोर अवस्थावाला भाग सविवेक शिक्षाके लिये है। अरस्तूका मत है कि शिक्षाका कुल भार राज्यको उठाना चाहिए क्योंकि प्रत्येक नागरिकको सद्‌गुण-सम्पन्न या सदाचारी बनाना राज्यका कर्तव्य है। रही व्यावसायिक श्रेणीकी बात सो उन्हें शिक्षा देनेकी कोई आवश्यकता है ही नहीं क्योंकि वे नागरिक ही नहीं हैं और इसी प्रकार स्त्रियोंकी शिक्षा भी बहुत परिमित होनी चाहिए। कुमार अवस्थाकी शिक्षा उसने प्रायः एथेन्सके समानही स्वीकारकी है जिसमें व्यायाम, संगीत और साहित्यक विषयोंकी शिक्षा सम्मिलित है। शिक्षा देते समय यह ध्यान रक्खा जायकि आत्मसंयम तथा रूप और सौन्दर्य की वृद्धिके लिये ही व्यायामकी शिक्षा दी जाय, सैनिक या मल्ल बनानेके लिये नहीं। साहित्यिक विषय भी उपादेयताके लिए न सिखाकर सांस्कृतिक भावोंके उद्दीपनके लिये सिखाए जायँ और संगीत भी केवल

मनोविनोदके लिये नहीं प्रत्युत उदात्त भावना प्रदीप्त करनेके उद्देश्यसे ही सिखाया जाय क्योंकि संगीत ही ऐसा विषय है जिसके द्वारा हमारे भावों का व्यवस्थित परिष्कार होता है और सम्पूर्ण मावनता के लिए करुणा और त्राणकी सृष्टिकरके हमारे मनोविकारोंका सरलता पूर्वक रेचन कर देता है।

सविवेक आत्माकी शिक्षाके लिये किस प्रकार व्यवस्थाकी जाय इसका विधान अरस्तू नहीं कर पाया है क्योंकि इसका ग्रन्थ अधूरा ही छूट गया है संभवतः इस उच्च-शिक्षामें उसने गणित, विज्ञान और तर्कशास्त्रको ही स्थान दिया होगा।

यद्यपि अरस्तूने नूतन और पुरातनके सौम्य-सामंजस्य का यत्न तो किया किन्तु अपने इस उद्देश्येमें वह सफल न हो सका क्योंकि व्यक्ति वादियोंका प्रभाव उन दिनों निरन्तर उग्रतम-रूप धारण करता जा रहा था और प्राचीनता वादियोंकी संख्या घटती जा रही थी जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक एकता पूर्ण रूपसे नष्ट हो गई 'खाओ पीओ, मौज करो' के मस्तीवादी सिद्धान्तके प्रवर्त्तक एपिकरस [एपिक्यूरस ३०० ई० पू०] आत्मसंयम, तथा सदाचार स्थित प्रज्ञताका प्रचार करनेवाले ज़ेनो [३०८ ई० पू०] तथा अनेक नास्तिकता वादी दार्शनिकों का उन दिनों बोलबाला था। समाज और उसके कल्याणकी भावना उस व्यक्तिवादी धारामें पड़कर सहसा विलीन हो गई।

सोफिस्ट या भाषण शास्त्री

इन्हीं दार्शनिकोंके साथ-साथ एक नये प्रकारके शिक्षा शास्त्री भी निकल पड़े जो जनताको भाषण कला या वक्तृत्व कला सिखाते थे, जिनका कथन यह था कि हम अपने शिष्योंको संसारमें सफल नागरिक बनाना चाहते हैं। उन्होंने लोगोंमें सार्वजनिक शिक्षाका तो प्रसार किया किन्तु धीरे-धीरे उनके नपे तुले, संकुचित और बँधे हुए नियम अपने आप ढीले पड़ने लगे यहाँ तक कि लोगोंने लिखे-लिखाए व्याख्यान रटवाने प्रारंभ कर दिए। मौलिकता जाती रही और केवल इने गिने विषयों तक ही इन शिष्यों का ज्ञान परिमित रह गया।

शनैः शनैः दार्शनिकों और व्याख्याताओंके, इन दो शिक्षा क्रमोंसे एथेन्स की ख्याति दूर दूर तक फैल गई। और सुदूर देशोंके विद्यार्थी भी झुण्डके झुण्ड आकर वहाँ अध्ययन करने लगे। सैनिक और बौद्धिक शिक्षाका सम्मेलन हुआ, एथेन्स में एक नियमित विश्वविद्यालयकी स्थापना हो गई और अल्प कालमें ही रोड्स, परगामौन, एलेग्जेन्ड्रिया और रोममें नए नए विश्व-विद्यालय खुल गए।

एथेन्सकी यह ख्याति ३०० ईस्वी तक समाप्त हो गई क्योंकि वहाँ केवल व्याख्यान कलाको ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और उसमें कृत्रिमता अधिक बढ़ गई। उधर एलेग्ज़ेन्ड्रियामें दर्शन और विज्ञान का समन्वय किया गया और वही संस्कृतिकी केन्द्रस्थली बन गई।

रोम की शिक्षा--पद्धति

रोमवालोंने भी जो कुछ अपनी शिक्षाकी अभिवृद्धिकी उसका सम्पूर्ण श्रेय यूनानको ही है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके यहाँ अपनी शिक्षा-पद्धतिका पूर्णतः अभाव हो। यूनानियों के आगमनसे पूर्व रोमवालोंके जीवनके आदर्श बड़े संकुचित तथा विश्व-बंधुत्व और कवित-विकास की भावनासे बहुत दूर थे। प्रारंभ में रोमकी शिक्षाका उद्देश्य देश-भक्ति और सैनिक जीवन ही था। प्रत्येक नागरिकको अपना व्यक्तित्व राज्यमें लयकर देना पड़ता था। उस समयकी सब शिक्षा अत्यन्त व्यावहारिक, नीरस और केवल उपादेय मात्र होती थी। यूनानियोंके आने से पहले रोममें विद्यालय ही नहीं था। कहीं कहीं कुछ छिटपुट चटशालाएँ [लूडस] थीं। इनके अतिरिक्त सब घरोंमें रोमी आदर्श और व्यावहारिक जीवनकी शिक्षाकी जाती थी। माताएँ अपने बालकों और बालिकाओंको बचपनमें शारीरिक और नैतिक शिक्षाएँ देती थीं और जब बालक बड़ा हो जाता था तो वह अपने पिताके साथ समाजमें प्रवेश करके अपने पिता तथा अन्य वृद्धोंका आचरण देखकर अपने आचार, विचार और व्यवहारमें कुशलता प्राप्त करता था। बालिकाओंको उनकी माताएँ शिक्षा देती थीं। जो बालक अधिकारी परिवारोंके होते थे वे अपने पिताके प्रवचन सुन-सुनकर और राज भोजोंमें जाकर रोमके आचार-विचार

और नियमों का अध्ययन करते थे। साथ ही ये अपने पिता या अन्य वयोवृद्धके साथ रहकर सैनिक या राजनीतिज्ञ बनने की शिक्षा लेते थे यदि कोई मध्यम परिवारका बालक हुआ तो वह खेत या दुकान पर जाकर अपने पिताका व्यवसाय सीखता था। सब वर्गकी बालिकाएँ अपनी माताओंसे ऊन बुनने, कातने तथा गृहस्थी सँभालनेकी शिक्षा लेती थीं। सब बच्चे लिखना-पढ़ना अपने माता-पिता से सीखते थे और रोमके वीरोंकी कहानियाँ, सैनिक और धार्मिक गीत तथा रोमके नियमोंकी बारह सरणियाँ वे कण्ठाग्र कर लेते थे। खेलोंके द्वारा उन्हें शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। फुर्तीले व्यायामोंकी व्यवस्था केवल सैनिक शिक्षार्थियोंके लिये ही था। रोमके युवकको घरेलू तथा सार्वजनिक धार्मिक कृत्योंके संपादनकी शिक्षा भी दी जाती थी क्योंकि वे लोग जीवनके प्रत्येक अंगका कोई न कोई अधिष्ठाता देवता मानते थे जिसे सन्तुष्ट करना सबका धर्म समझा जाता था। अतः रोमकी प्रारंभिक शिक्षा व्यावहारिक और व्यावसायिक मात्र थी। इस शिक्षाका उद्देश्य यह था कि राज्यमें ऐसे योग्य पिता, कुशल नागरिक और वीर सैनिक बनें जो शरीरसे स्वस्थ हों, मनसे दृढ़ हों, स्वभावसे सरल और गंभीर हों, देवता, माता-पिता तथा शासन-संस्थानोंका आदर करते हों, युद्धमें पीठ दिखाकर न भागें और अपने देशमें खेती या व्यवसाय चलानेमें सिद्ध हों। इन उद्देश्योंसे दी हुई शिक्षाका फल यह हुआ कि वहाँके

विद्यार्थी कुशल योद्धा और अच्छे नागरिक तो बने किन्तु वे सब निरे स्वार्थी, अभिमानी, निर्मम, उजड्ड और अविवेकी ही बने रहे, उदात्त-भावनाओंका उनमें विकास ही नहीं हो पाया।

जबसे यूनानी प्रभाव रोम पर पड़ने लगा तबसे रोमके आदर्शोंमें भी परिवर्तन होने लगा और रोममें भी कई प्रकारके विद्यालय खुले जिनमें तीन प्रकारके विद्यालय अधिक प्रसिद्ध हुए। पहला था लूदस या साहित्य विद्यालय जो प्रारंभिक पाठशालाके समान था। दूसरा था व्याकरण-विद्यालय और तीसरा था भाषण-कला विद्यालय जहां भाषण-कला सिखाई जाती थी और जहाँ उच्च श्रेणीकी शिक्षा भी दी जाती थी। यही रोमकी सबसे ऊँची पाठशाला मानी जाती थी। लूदस या प्रारंभिक पाठशालामें लिखना, पढ़ना और गिनना सिखाया जाता था और यह सब होता था ऐतिहासिक कथानकों, गीतों और राज्यके बारह सरिणियोंके नियमोंके द्वारा। पीछे इनमें होमरकी ओडेसीके कुछ अंश भी सम्मिलित कर लिए गए। यह सम्पूर्ण शिक्षा रटन्त प्रणाली द्वारा होती थी। कुछ संज्ञाओं और सब अक्षरोंको क्रमसे पहले रटा दिया जाता था और अक्षरोंका रूप बहुत पीछे सिखाया जाता था। लिखना और पढ़ना श्रुत-लेख द्वारा तथा मोमकी पाटियों पर लोहेके कलमसे लिखवाकर सिखाया जाता था। उँगलियों पर गिनवाकर गिनती प्रारंभ की जाती थी जो गोलियोंको गिनवाकर पूरीकी जाती थी और पाटियों पर जोड़-भागके

प्रश्न कराए जाते थे। इन विद्यालयोंमें शासन बड़ा कड़ा था। डंडे, कोड़े और बेंतोंका अत्यन्त उदारतासे उपयोग होता था।

व्याकरण विद्यालयोंमें शुद्ध बोलने और कवियोंकी कविताका ठीक अर्थ करनेकी शिक्षा दी जाती थी। साहित्यिक-शिक्षाका क्रम यह था कि कवियोंकी कविताओंका भाषानुवाद कराकर या उनकी आलोचना या टीका करके या स्वतः पद्य-रचना करके साहित्यका शिक्षण पूरा कराया जाता था। इसके अतिरिक्त गणित,ज्यामिति, भूगोल और संगीत सिखाने की भी व्यवस्था थी। कुछ फुरतीले व्यायाम भी कराए जाते थे। इन विद्यालयोंके भवन भी प्रारंभिक पाठशालाओंसे अधिक अच्छे थे किन्तु शासन यहाँका भी अत्यधिक कठोर था।

भाषण-कला

विद्यालयोंमें प्रायः विभिन्न विषयों पर व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ हुआ करते थे। ये विद्यालय व्यावसायिक थे और उदार शिक्षा देते थे। व्याख्यानकी शिक्षा देनेके अतिरिक्त इनमें भाषा विषयक शिक्षा भी दी जाती थी। इसमें पहले तो युवकोंको राजनीतिक विषयों पर भाषण देनेका अभ्यास कराया जाता था और फिर तीन प्रकारकी व्याख्यान-कलाएं सिखाई जाती थीं स्पष्ट, युक्ति युक्त और प्रशंसापूर्ण जिनमें विषय क्रम, शैली, स्मृति और प्रवाह सब पर ध्यान दिया जाता था रोमकी दृष्टिमें व्याख्याता ही संस्कृति और शिक्षाका प्रतीक था जो केवल इतिहास और शासन-विधान पर भाषण

मात्र ही नहीं करता था वरन् वह बहुपठ होनेके साथ साथ सुशोभन, सुसंस्कृत, मानवीय मनोवेगोंका ज्ञाता, विवेकी और मेधावी भी होता था। इस प्रकार रोमकी शिक्षा पूर्णतः यूनानी बन गई और धीरे धीरे यूनानके समान यहाँकी शिक्षाका भी ह्रास हो चला, यहां भी केवल कृत्रिमता ही रह गई।

इस प्रकार यूनानकी शिक्षाका उद्देश्य प्रारंभमें सैनिक बनाना रहा, फिर साहित्य, कला और सैनिक शिक्षाका संयोग हुआ। इसके पश्चात् इसमें व्यक्तिवादका प्रवेश हुआ। फिर समाजवाद और व्यक्तिवादका संघर्ष निरंतर चलता रहा। इसी संघर्षसे यूनान और रोम अपना अपना वैभव लेकर समाप्त हो गए।

प्रारंभिक ईसाई शिक्षण-पद्धति

जिस समय ईसाई धर्मका प्रचार हुआ उस समय ईसाके अनुयायियोंकी बौद्धिक स्थिति सन्तोषप्रद न थी और इनमेंसे अधिकांश निरक्षर थे। किन्तु ईसाई पादरियोंने ईसाकी शिक्षाओं और धर्मोपदेशों द्वारा नैतिक शिक्षा भलीभाँति पाई। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह इहलोककी बात छोड़कर पारलौकिक चिन्तनमें लग गए। इसीलिये शिक्षा-शास्त्रियोंने उस समयकी शिक्षाको ही पारलौकिक-शिक्षा कहा है। द्वितीय शताब्दिमें जब ईसाई मतका प्रचार बढ़ने लगा तब सभी लोग शिक्षाकी आवश्यकता अनुभव करने लगे। कति-

शूमेन्स नामक विद्यालय खोले गए जिसमें आत्माके कल्याणके लिए और पारलौकिक ज्ञानके हेतु शिक्षाकी व्यवस्थाकी गई। गिरजाघरोंकी बरसातीमें या दालानमें कक्षाएँ लगने लगीं और वहाँ नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाके साथ साथ बाँचने धर्मग्रन्थ रटने तथा धार्मिक गीत गानेकी शिक्षा दी जाने लगी। पाठ्यक्रमकी अवधि तीन बरसकी थी जिसमें किसी प्रकारका कक्षा-विभाग या श्रेणी-विभाग नहीं था।

इधर ईसाई लोग पारलौकिक शिक्षा दे रहे थे उधर रोम और यूनानी दार्शनिक इहलौकिक शिक्षाका विधान बनानेमें जुटे थे जिसका उद्देश्य ऐसे साधन खोजना था जिससे हम अपने जीवनसे अधिकसे अधिक तुष्टि पा सकें। ईसाई विद्यालयोंसे विभेद दिखलानेके लिए हम इन रोम-यूनानी विद्यालयोंको इहलौकिक विद्यालय कह सकते हैं। जब ईसाई-धर्म रोम तक फैल गया तब नए ईसाई लोग यह प्रयत्न करने लगे कि ईसाईयोंकी पारलौकिक-शिक्षाका रोम-यूनानी इहलौकिक-शिक्षाके साथ गठबंधन करा दिया जाय। ये लोग एपोलोजिस्ट्स (समन्वयवादी) या संधिविधायक कहलाए।

परिणाम यह हुआ कि दूसरी और तीसरी शताब्दिमें अलेग्ज़ेन्ड्रिया निवासी सभी ईसाईयोंने अपने धार्मिक दर्शनके साथ यूनानी विचारोंका सम्मिलन करके केटेचेटिकल (मौखिक या प्रश्नोत्तर शिक्षालय) या धार्मिक विद्यालय खोल दिए जिसमें ईसाई-शिक्षकों और नेताओंका निर्माण किया जाता था।

इन विद्यालयोंके कोई अपने अलग भवन नहीं थे। सब विद्यार्थी समूह रूपसे अध्यापकके घर पर पढ़ने जाते थे। विद्यार्थियोंको यह भी अनुज्ञा थी कि वे अलेग्ज़ेन्ड्रिया विश्वविद्यालयका भी पूरा लाभ उठावें। बाइबिलका पूर्ण-ज्ञान लाभ करनेके साथ साथ उन्हें एपीक्यूरीय (खाओ पीओ मौजकरो) दर्शनको छोड़कर यूनानी दर्शन, सभी प्रकारके विज्ञान, उदात्त यूनानी साहित्य, व्याकरण, भाषणकला तथा बहु देववादी विद्यालयोंके अन्य उदात्त विषयोंके अध्ययनकी भी आज्ञा थी। इस प्रकार इन मौखिक विद्यालयोंमें इहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओंके सम्मेलनका स्तुत्य उद्योग किया गया। यूनान तथा रोमके विभिन्न क्षेत्रोंमें इस प्रकारके अनेक विद्यालय खुल गए, किन्तु इससे भी पूर्व पादरियोंने गिरिजा-घरोंमें सेवा करनेवाले अन्य पादरियोंको शिक्षित करनेके लिए यूनानी शिक्षा-पद्धतिको स्वीकार कर लिया था। यह शिक्षालय एपिस्कोपल या कैथड्रल या पादरियोंके स्कूल कहलाने लगे और मध्ययुगमें तो ये विद्यालय अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण शिक्षाकेन्द्र समझे जाने लगे थे। शनैः शनैः इन विद्या-लयोंमें से तीन प्रकारके विद्यालयोंका प्रादुर्भाव हुआ। पहला व्याकरण विद्यालय, दूसरा संगीत विद्यालय और तीसरा दोनोंका मिश्रण, किन्तु ईसाई धर्मके विकासके साथ ही इस रोम-यूनानी संस्कृति और शिक्षाके विरुद्ध विद्रोह होने लगा और सन् ५२९ ईस्वीमें जस्टीनियनने अपने आदेशसे बहुदेव-वादियोंकी शिक्षा बन्द करादी और ईसाई शिक्षा फिरसे

पारलौकिक शिक्षामात्र रह गई।

ईसाई मठोंमें शिक्षा

मध्यकालीन युगमें जर्मन जातिने इस वेगसे उन्नतिकी कि उन्होंने रोम यूनानी तथा ईसाई सभ्यताओंको पचा डाला। यह श्रेय जर्मन जातिको ही है कि वर्तमान काल तक वे सभ्यताएं निरन्तर बनी चली आती रहीं। उधर गिरजा-घरोंमें यह भावना उत्पन्न हो चली थी कि प्रत्येक व्यक्तिको विशेष रूढ़ि और आदेशका पालन करना चाहिए। गिरजाघरों ने मठोंका रूप ले लिया और उन्हींके आदेश सर्वमान्य और प्रधान समझे जाने लगे। इन मठीय विद्यालयोंको समझने के लिए उस आन्दोलनकी भी परीक्षा करनी चाहिए जिसने इन विद्यालयोंको जन्म दिया था। अपने वैभवके युगमें रोम वाले इतने विलासी हो गए थे कि आचार-विचार, धर्म और नीति सबमें भयंकर विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई थी। वीरता के जिन आदर्शोंने रोमके उत्कर्षका मंगलगान गाया था वह शिथिल होकर धराशायी हो गया और उसके स्थान पर अत्यन्त हीन प्रकारकी विलासिताका नग्न-नृत्य होने लगा। इस प्रकारके विलासितापूर्ण जीवन का विरोध होना सर्वथा स्वाभाविक भी था। इसीलिए जो धार्मिक व्यक्ति ईसाई धर्म को इन पापोंसे बचाना चाहते थे उन्होंने प्रत्यक्ष विरोधकर के इस अनीति का मूलोच्छेद करनेका निश्चय किया और एक नए प्रकारके मठ स्थापित किए जिनमें सांसारिक जीवन

तथा अन्य प्रलोभनोंकी पूर्णतः उपेक्षा करके एकान्त जीवन, संन्यास और भक्ति की शिक्षा दी जाने लगी। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ऐसे मठ या आश्रमोंकी स्थापना हुई जिनमें साधु लोग अलग-अलग कोठरियोंमें रहकर धर्म-चिन्तन करते थे और केवल भोजन, प्रार्थना और धार्मिक-गोष्ठीके लिए ही एकत्र होते थे। यह मठवाद मिस्र देशसे प्रारंभ हुआ सीरिया, फिलस्तीन, यूनान इतालिया और गौल तक फैल गया। किन्तु जो पाश्चात्य मठवाद चला वह अधिक सशक्त और सक्रिय सिद्ध हुआ और वहाँके नियम भी अधिक कठोर न थे। यहाँ तक कि साधु लोग हल चलाने और साहित्य-संरक्षणका काम भी करते थे।

ये मठ बेनिडिक्ट के नियमानुसार संबद्ध और समुन्नत हुए। इस नियममें यह आज्ञा दी गई थी कि प्रत्येक साधुको प्रतिदिन कमसे कम सात घण्टे शारीरिक-श्रम करना चाहिए और दो घण्टे नियमित रूपसे पढ़ना चाहिए फल यह हुआ कि प्रत्येक मठमें एक स्क्रिप्टौरियम या लेखशाला बन गई, जहाँ साधु-लोग लातिन ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करते थे या मौलिक साहित्य-सर्जन करते थे। साहित्य-संरक्षणकी यह प्रवृत्ति इंगलिस्तानमें विशेष रूपसे समुन्नत हुई शनैः शनैः रोमन चर्च और आयरलैण्डके ईसाई धर्मका सम्मिलन हुआ जिसके फलस्वरूप साहित्य और संस्कृतिका बड़ा उत्कर्ष हुआ।

इन मठोंमें विद्यालय भी खोल दिए गए। मठोंके विद्यालयोंमें आठ या दस वर्षका पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया।

प्रविष्ट होनेवाले विद्यार्थियोंकी अवस्था भी आठ या दस वर्षकी ही होती थी क्योंकि अठारह वर्षसे कमका विद्यार्थी गिरजाघरका सदस्य नहीं हो सकता था। नवीं शताब्दिमें तो ऐसे भी विद्यार्थी भरती किए जाने लगे जो गिरजाघरके सदस्य नहीं होते थे। इसलिए इन्हें एक्स्टर्नी या बाहरी कहा जाने लगा और साधु बनने वाले विद्यार्थियोंको ऑब्लती। साधुनी बननेवाली बहनोंको भी इसी प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी।

पहले तो इन पाठशालाओंका पाठ्यक्रम अत्यन्त संकुचित और साधारण था। जिसमें बाइबिलका अध्ययन करनेके उद्देश्यसे पढ़ना, धर्मग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करनेके उद्देश्यसे लिखना और गिरजाघरोंके उत्सवोंकी गणना करनेके उद्देश्यसे गिनना सिखाया जाता था किन्तु पीछे सात उदार कलाओंकी शिक्षा भी संक्षिप्त रूपमें दी जाने लगी।

यद्यपि रोम और यूनानमें इन ७ उदार कलाओंकी परिधि विभिन्न थी किन्तु पाँचवी और छठी शताब्दिमें परिधिका रूप स्पष्ट कर दिया गया। अधोज्ञानत्रयी (ट्रिवियम) में व्याकरण, भाषणकला और शास्त्रार्थकी गणना हुई और ज्ञानचतुष्टयी (क्वाड्रिवियम) गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्योतिषकी गणना हुई। यद्यपि यह पाठ्यक्रम अधिक उदार नहीं जान पड़ता किन्तु इसकी परिधि वस्तुतः अत्यधिक विस्तृत थी क्योंकि व्याकरण द्वारा साहित्यका ज्ञान होता था, भाषणकला द्वारा नीति और इतिहासका, शास्त्र द्वारा

दर्शनका, गणित द्वारा सब प्रकारकी गणनाका, ज्यामिति द्वारा भूगोल और भू-मापका, संगीत द्वारा भाव-परिष्कारका और ज्योतिष द्वारा समस्त भौतिक विज्ञान और उच्चतम गणितका। इन मठीय विद्यालयोंमें प्रश्नोत्तरी प्रणालीसे शिक्षा दी जाती थी। पुस्तकोंकी कमीके कारण शिक्षक लोग विद्यार्थियोंको बोलते चलते थे और वे शिष्य अपनी पटियों पर उसे लिखते थे। इन मठीय विद्यालयोंने यद्यपि अत्यन्त कठोरताके साथ इहलौकिकताका विरोध किया किन्तु यह भी सत्य है कि इनके द्वारा रोम-यूनानी संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्यका भी संरक्षण हुआ। यदि ये मठीय विद्यालय न होते तो रोम और यूनानका न जाने कितना साहित्य अबतक लुप्त हो गया होता।

चार्लमैग्ने और अलकूयिन

आठवीं शताब्दी तक विद्या और विद्यालयोंकी जो अव्यवस्था थी उसे सुधारनेके लिए चार्लमैग्नेने यौर्कके अलकूयिन को शिक्षा-सचिव बनाकर बुलाया। अलकूयिनने यह सम्मति दी कि उच्चशिक्षाकी व्यवस्था प्रासाद विद्यालय (पेलेस स्कूल) में की जाय। इस विद्यालयमें राजा, राजपरिवार, राजाके संबंधी तथा अन्य राजमित्र आ आकर सैक्सन शिक्षकसे पढ़ने लगे। यहाँके शिक्षार्थी भी दूसरे ढंगके अर्थात् राजपुरुप थे इसलिए रटन्त प्रणालीका पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया। शिक्षाके विषयोंमें व्याकरण लेटिन कवि और पादरियोके लेखों

अध्ययन, भाषणकला, शास्त्रार्थ, गणित, ज्योतिष और धर्मकी शिक्षा सम्मिलित करली गई थी। इसीके साथ साथ पादरी-विद्यालय-मठीय, विद्यालय और गिरजाघरके शिक्षालयोंमें भी सुधार किए गए। सन् ७८७ में चार्लमैग्नेने ने सब पादरियोंको केपिचुलरी या आदेशापत्र भेजा कि शिक्षाके संबंधमें अधिक सावधान रहा जाय और ऐसे अध्यापक चुने जायं जो योग्य हों, पढ़ानेके इच्छुक हों, जिन्हें स्वयं सीखने और दूसरोंको शिक्षा देनेकी लगन हो। इसके दो वर्ष पीछे उसने एक दूसरे आदेशपत्रमें पाठ्य विषयोंका भी निर्धारण किया है। इस समय तक उपर्युक्त विद्यालयोंके अतिरिक्त गांवोंमें भी विद्यालय खुलने लगे थे जहां प्रारंभिक कक्षाओंमें पढ़ना, लिखना, गिनना, गाना और धर्म पढ़ानेका प्रबन्ध था। इससे आगे व्याकरण, भाषणकला और शास्त्रार्थकी शिक्षा दी जाती थी। और कुछ प्रसिद्ध विद्यालयोंमें ज्ञान चतुष्टयी भी सिखाई जाती थी। गाँवके विद्यालयोंमें स्थानीय पादरी लोग केवल ईश-प्रार्थना धर्म और धार्मिक गीत भी सिखाते थे। साधु बनने वाले समस्त बालकोंको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। उनका उद्देश्य यह था कि शिक्षाका द्वार राजा और रंक सबके लिये खुला होना चाहिए। इसके पश्चात् चार्लमैग्नेने सबके लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी। चार्लमैग्नेसे छुट्टी पाकर अलक्वियिनने अपना अलग शिक्षा-केन्द्र खोला जहाँसे साम्राज्य भरके अनेक प्रसिद्ध शिक्षक और पादरी निकले। अलक्वियिन कुछ प्राचीन-तावादी था। इसलिए उसकी शिक्षासंबंधी भावना कुछ समु-

चित थी। किन्तु तत्कालीन शिक्षा-पद्धति पर अलकूयिनने जो प्रभाव डाला उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार पहले पहल व्यवस्थित रूपसे यूरोपमें शिक्षा-पद्धतिका विकास और विस्तार हुआ।

यूरोपकी शिक्षामें मुसलमानोंका हाथ

मुसलमानोंके पैगम्बर मोहम्मद साहबने जिस धर्मका नेतृत्व किया वह जब धीरे धीरे सीरिया और यूनानसे सम्पर्क स्थापित करने लगा तो स्वाभाविक रूपसे मुसलमानोंने सीरिया और यूनानके दार्शनिकों, गणितज्ञों और भिषज्ञोंके ग्रन्थोंका अरबी भाषामें अनुवाद करना आरंभ किया। अधिकांश मुसलमान यूनानी विद्या और सभ्यतासे सशंक थे। इसीलिए यूनानसे प्रभावित मुसलमानोंको कट्टरपंथियोंने खदेड़ कर उत्तरी अफ्रीका और स्पेनमें भेज दिया। ये लोग मूर कहलाए। इनके बहुतसे विद्यालय कौर्दोवा, ग्रानावा, तोलेदो आदि स्थानोंमें स्थापित हुए। इन विद्यालयोंमें गणित, ज्यामिति, त्रिज्यामिति। ज्योतिष भौतिक विज्ञान, प्राणिशास्त्र औषधि विज्ञान, चीर फाड़, न्याय, तर्क और दर्शनकी शिक्षा दी जाती थी। इन मुसलमानी विद्यालयोंका प्रभाव यह हुआ कि ईसाई विद्यालयोंने भी उनका अनुकरण करके अपनी शिक्षा-प्रणालीमें बड़ी उन्नतिकी किन्तु कट्टरपन्थी मुसलमानोंका प्रभाव बढ़ता जा रहा था और इसलिए धीरे धीरे यह उन्नत मुसलमानी शिक्षा समाप्त हो

गई और मुसलमान फिर जैसेके तैसे रह गए। •

विद्वद्वाद की प्रवृत्तियाँ।

ग्यारहवीं शताब्दिमें मठीय विद्यालयों तथा पादरी विद्यालयोंमें जो अधिकृत अध्यापक होते थे उन्हें डॉक्टर ऑफ़ स्कॉलेसटिकुस या विद्याचार्यकी पदवी दी जाती थी। क्रमशः इन लोगोंने दार्शनिक विचारकी एक नई प्रणाली आविष्कृतकी। उनका विश्वास था कि किसी बात पर तर्क करनेसे पहले उसमें विश्वास होना चाहिए, किन्तु शनैः शनैः फल यह हुआ कि सत्यके परीक्षणकी एकमात्र कसौटी तर्क ही समझी जाने लगी। इस प्रणालीका प्रारंभ हुआ था प्राचीन अंध-विश्वासको नष्ट करनेके लिए और इसीलिए इन विद्याचार्यों का यही। उद्देश्य रहा कि ईसाई मतके सिद्धान्तोंको तर्क द्वारा सिद्ध करें। इनके प्रथम आचार्य आंगसिन (१०३३) से ११०६) ने यह कहा कि किसी भी सिद्धान्तका पालन और उसके सत्य का निर्णय करनेके पूर्व उसमें विश्वास होना चाहिए। यदि फिर वह तर्क द्वारा सिद्ध न हो सके तो उसे छोड़ देना चाहिए। धीरे धीरे यह विश्वास बदलता गया और यही सिद्ध किया गया कि मनुष्यके लिये केवल तर्क ही पर्याप्त नहीं है, सत्यकी परीक्षा अनुभव और खोजसे ही हो सकती है।

शिक्षाके क्षेत्रमें पहुँचकर इस विद्वद्वादने यह उद्देश्य

स्थिर किया कि तर्कशास्त्रकी शिक्षा दी जाय और छात्रोंका ऐसा बौद्धिक नियमन हो कि विद्यार्थिगण तत्कालीन समस्त ज्ञानको रुचि पूर्वक ग्रहण कर सकें। इस पाठ्यक्रम में ईसाई धर्मके सिद्धान्त तो थे ही किन्तु साथ साथ उस समय की उन समस्त विद्याओंका परिचित और संक्षिप्त रूप भी था जो अरस्तूके परिणामात्मक तर्कके आधार पर व्यवस्थित था। इसकी शिक्षा प्रणाली यह थी कि पहले कोई दार्शनिक समस्या रख दी जाती थी, फिर समस्त विरोधी तर्क और प्रमाण देकर उसका खण्डन कर दिया जाता था। और अन्तमें उसका युक्तियुक्त उचित समाधान करके उस सिद्धान्तकी स्थापना कर दी जाती थी। इस प्रणालीका एक ही अच्छा फल हुआ कि ईसाई धर्मके सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध कर दिए गए। दर्शन भी धर्मशास्त्र से अलग हो गया किन्तु शिक्षाके क्षेत्रके लिए यह प्रणाली अधिक उपादेय सिद्ध न हो पाई।

मध्ययुगीन विश्वविद्यालय

यह हम पीछे कह आए हैं कि मध्ययुगके अन्तिम भागमें स्थान-स्थान पर विश्वविद्यालय जन्म ले रहे थे। तत्कालीन युवकोंमें उच्चशिक्षा प्राप्त करनेकी लालसा भी जग रही थी। इस आन्दोलनमें विचित्र बात यह थी कि इन शिक्षाकेन्द्रोंमें केवल नैतिक या धार्मिक शिक्षाही नहीं दी जाती थी प्रत्युत भेषज्-विज्ञान, नीति तथा अन्य शास्त्रोंकी भी शिक्षा-व्यवस्था

थी। सालेरनोमें वैद्यककी, बोलोनामें नागरिक न्याय-नीतिकी और पैरी (पेरिस) में धर्मशास्त्रकी शिक्षा दी जाने लगी। बोलोना ही तत्कालीन विश्वविद्यालयों का आदर्श बना। दक्षिण के विश्वविद्यालय उसीके आधारपर स्थापित हुए और पेरिस विश्वविधालयके आधार पर उत्तरके। बोलोना विश्वविद्यालयका समस्त प्रबन्ध विद्यार्थी ही स्वयं करते थे। वे ही अध्यापक नियुक्त करते थे, शुल्क निर्धारित करते थे, पढ़नेकी अवधि निश्चित करते थे और कार्यारंभ का समय बाँधते थे। इसका कारण यह था कि वहांके सब विद्यार्थी युवक और प्रौढ़ थे। किन्तु पेरिस विश्वविद्यालय में विद्यार्थी छोटी अवस्था के थे और इसी कारण पेरिस विश्वविद्यालयकी व्यवस्था अध्यापकों के हाथमें रही। इसीलिए पेरिसके आधारपर प्रस्थापित उत्तरीय विश्वविद्यालय 'मास्टर यूनिवर्सिटीज' (अध्यापक-विश्वविद्यालय) कहलाए और बोलोनाके आधारपर स्थापित विश्वविद्यालय छात्र-विश्वविद्यालय कहलाए। धीरे धीरे इन विश्वविद्यालयों को राजाओं और पोपोंने अनेकानेक अधिकार और सुविधाएँ दे दीं और उनका प्रचार चल निकला। यूनिवर्सिटी या विश्वविद्यालय शब्द प्रारंभमें छात्रों और अध्यापकोंके समूहका बोधक था, जहाँ प्रत्येक राष्ट्रके विद्यार्थी अलग अलग वर्गों में विभक्त कर दिए जाते थे। और शिक्षक भी चार या पाँच फैकल्टीज़ या विषय-वर्गों में विभक्त थे।

इन विश्वविद्यालयों में शास्त्र-विभाग (आर्ट्स) सात उदार कलाएँ, (व्याकरण, भाषणकला, शास्त्रार्थकला, गणित ज्यामिति, संगीत और ज्योतिष) और अरस्तू का कुछ भाग पढ़ाया जाता था। नागरिक-शास्त्र और न्याय विधान में जस्टीनियनका दण्डविधान और ग्रेटियन की डिक्री या आदेश की शिक्षा दी जाती थी। भेषज्-विज्ञान में यूनानी तथा अथ भिषज्ञोंके निबंध पढ़ाए जाते थे। धर्मशास्त्रमें पीटर दि लम्बार्ड का सेंटेंशिया या धर्मोपदेश पढ़ाया जाता था। पाठन-प्रणाली यह थी कि अध्यापकगण पुस्तक पढ़ाते थे और व्याख्यानों द्वारा विषयकी व्याख्या करते थे। साथ ही शास्त्रार्थ करनेकी व्यावहारिक शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। यद्यपि इन विश्वविद्यालयोंमें पाठ्यक्रम और पाठ्य प्रणाली अन्यन्त नियमित और संकुचित थी किन्तु इन मध्य-युगीन विश्वविद्यालयोंमें विचार और कार्यकी स्वतंत्रता के भावोंको अत्यन्त उत्तेजना भी प्रदानकी गई।

पोपों या राजाओंने इन विश्वविद्यालयोंको जो अधिकार और सुविधाएँ प्रदानकीं उनमें एक यह भी थी कि अध्यापकों को बिना आगे की परीक्षा दिए हुए ही कहीं पर भी व्याख्यान देनेका अधिकार था और यह भी अधिकार था कि जब विश्वविद्यालयके अधिकारमें किसी प्रकारकी बाधा पड़े तो हड़ताल भी करदें। यदि बाधा पड़ने पर उसका उचित परिहार हुआ तो ठीक, नहीं तो व्याख्यान बन्द कर दिए जाते थे और विश्वविद्यालय भी एक नगर से

उठाकर दूसरे नगरमें ले जाते थे। इसमें कोई कठिनाई भी न थी क्योंकि उस समय विश्वविद्यालयोंके पास न तो भवन थे, न पुस्तकालय न भव्य प्रयोगशालाएँ। इस अधिकारका कुफल यह हुआ कि विश्वविद्यालय स्वतंत्र ही नहीं उच्छृङ्खल भी हो गए। छात्रोंमें परस्पर झगड़े होने लगे। और एक ऐसा छात्र-दल उत्पन्न हो गया जो घुमन्तू छात्र कहलाने लगे, एक विश्वविद्यालयसे दूसरे विश्वविद्यालयमें निरन्तर स्थान परिवर्तन करते रहते थे।

इन विद्यालयोंमें पाठ्यक्रम समाप्त होनेपर प्रत्येक छात्रकी इस बातमें परीक्षाकी जाती थी कि वह किसी विषयमें शास्त्रार्थ करने या व्याख्या करनेके योग्य है या नहीं और यदि वह सफल हुआ तो उसे आचार्य (मास्टर) महाचार्य (डाक्टर) या अध्यापक (प्रोफ़ेसर) की उपाधि दे दी जाती थी। प्रारंभमें ये सभी पद प्रायः समान समझे जाते थे। इनका यही अर्थ था इन उपाधियों वाला व्यक्ति कहीं पर भी शिक्षक हो सकता है। एक और भी उपाधि थी 'बेकेलौरिएट' जो वास्तव में उपाधि तो नहीं थी वरन् शिक्षक होनेके लिये आज्ञामात्र थी किन्तु तेरहवीं शताब्दिमें यह उपाधि एक प्रकार की सम्मानित उपाधि बन गई।

वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी दृष्टिसे इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयोंकी शिक्षा अत्यन्त परिमित, संकुचित बँधी हुई और अल्प थी। इनमें सांस्कृतिक युगके साहित्यका अत्यन्त अभाव था। इनके द्वारा स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र

विचारका पूर्णरूपसे विकास हुआ जिससे सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ानेमें बड़ी सहायता मिली।

वीरताकी शिक्षा

उपर्युक्त शिक्षा पद्धतियोंके अतिरिक्त एक और प्रकारकी शिक्षा भी एक विशेष वर्गको दी जाने लगी थी और वह भी एक प्रकारकी अर्द्धसैनिक शिक्षा जो मध्ययुगीन नाइटों या साहसी सरदारोंको दी जाती थी। इसे वे लोग वीरता या शिवेलरीकी शिक्षा कहते थे। शिवेलरी या वीरता, शिष्टाचार की उस नितिमालाको कहते हैं जो मध्ययुगीन सामन्त प्रणालीमें प्रचलित थी। ये सामन्त छोटे छोटे भूमिपति या सामन्त थे जो किसी शक्तिशाली पड़ोसी पर रक्षाके लिए निर्भर रहते थे और जो शनैः शनैः अपने सामाजिक और रहन सहन के विशिष्ट पदके कारण, किसानों से अलग वर्ग बनाकर खड़े हो गए थे। इनका काम यही था कि आपसमें भाला, तलवार या फरसा लेकर लड़ें और समय पर अपने रक्षक सामन्तोंकी ओरसे युद्धमें भाग लें। इस शिक्षाके अभ्यासके लिए ये लोग आपसमें बनावटी युद्ध भी करते थे जो कहनेको तो बनावटी होते थे पर परिणाममें पूर्ण वास्तविक।

१२ वीं शताब्दिके मध्यमें जब वीरता युगके समाप्त होनेपर शिष्टाचारका युग प्रारंभ हुआ उस समय इन सामन्तोंका काम यही रह गया कि महिलाओं के प्रति

अतिशय भक्ति दिखावें और कोई साहसिक कार्य करके ख्याति प्राप्त करें। प्रायः ये साहसिक कार्य व्यवस्थित प्रतियोगिताओं में प्रदर्शित किए जाते थे। जैसे आजकल खेलकी प्रतियोगिताओंके नियम बने रहते हैं, वैसे ही उस समय भी इस वीरता प्रदर्शनके नियम बाँध दिए गए थे। इन सामन्तों का आदर्श यही था कि ईश्वरकी भक्ति और उपसना करें, । अपने स्वामीकी आज्ञा मानें। अपनी-अपनी चुनी हुई महिला को प्रसन्न करनेके लिए, उसकी आज्ञा पालन करनेके लिए जो कुछ हो सके वह सब करें। इसीलिए इस वीरताकी शिक्षाके तीन प्रधान लक्ष्य हुए धर्म, सम्मान और प्रेम।

इस शिक्षाकी तीन अवस्थाएँ थीं। आठ वर्षकी अवस्था तक बच्चेको माता द्वारा धर्म, नम्रता, और शारीरिक स्वास्थ्यकी शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् वह किसी सामन्तके पास जाकर उसका सेवक हो जाता था। वहाँ वह अपने स्वामी और स्वामिनीकी व्यक्तिगत सेवाएँ करता था और उन्हींसे शतरंज खेलना, प्रेम और आदर का शिष्टाचार, तंत्री और वंशी बजाना, गाना, लिखना, पढ़ना और कविता करना सीखता था। प्रासादके भीतरकी इस शिक्षासे बाहर उसे दौड़ने, कुश्ती लड़ने, मुक्की लड़ने, घुड़ सवारी करने और भाला फेंककर मारने की शिक्षा लेनी पड़ती थी। चौदह-पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वह स्क्वायर या छोटा सरदार बन जाता था और यद्यपि वह अब भी अपने स्वामी और स्वामिनीके लिए मांस पकाता और अतिथि

सेवा करता था किन्तु विशेष रूप से अब उसे किसी नाइट या सामन्तके साथ शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। वह रातको उसीके पास सोता, घोड़ोंको मलता, अस्त्र शस्त्रोंकी मँजाई करता और प्रतियोगिताओं तथा युद्धोंमें उसके साथ रहता। इस प्रकार उसे युद्धकौशलकी शिक्षा मिल जाती थी। इस शिक्षाके समाप्त होने तक वह अपनी कोई प्रेमिका चुन लेता था। नृत्य करना तथा कविता करना भी सीख लेता था। इक्कीस वर्षकी अवस्थामें बड़ी धूमधामसे और बड़े सांस्कारिक कृत्योंके साथ उसे सामन्त वर्गमें दीक्षित कर लिया जाता था। दीक्षित होने से पहले उसे व्रत करना पड़ता था और पूर्ण शस्त्रोंअस्त्रसे सज्जित होकर पूरी रातभर गिरजाघर में जाकर अत्यन्त सावधानी के साथ पवित्र ध्यान करना पड़ता था। प्रातःकाल धर्मगुरुके पास जाकर वह सब अपने पुराने दोष स्वीकार करता था। गिरजाघरकी वेदीपर पुरोहितसे अपनी तलवार पर वरदान लेता था और यह प्रतिज्ञा करता था कि मैं आजसे गिरजाघरकी तथा स्त्रियों की रक्षा करूँगा और दीनःहीनोंकी सेवा करूँगा। इसके पश्चात् वह अपने स्वामीके आगे घुटने टेक देता था। स्वामी अपनी तलवार उसके सिर पर रखकर उसे सामन्त वर्गमें दीक्षित कर लेता था। यह की सामन्त शिक्षा जिसमें प्रेम, युद्ध और धर्मकी शिक्षा दी जाती थी। इसमें जहाँ एक ओर साहस था वहीं दूसरी ओर निर्दयता भी थी एक ओर आत्म सम्मान था तो दूसरी ओर अभिमान भी था, एक ओर उदारता

थी तो दूसरी ओर विलासिता भी थी। यद्यपि महिलाओंके प्रति आदर्श प्रदर्शित करना इनका कर्तव्य था किन्तु वह आदर भी विशेष वर्गकी महिलाओंके प्रति ही दिखाया जाता था किन्तु फिर भी इस शिक्षाके दो बड़े लाभ यह हुए कि एक तो स्त्रियोंका पद और मान अधिक बढ़ गया और अभी तक पादरी पाठशालाओंमें पारलौकिक शिक्षाका जो एकांगी आदर्श था उसमें इहलौकिक शिक्षाका भी समावेश होने लगा।

व्यावसायिक संघोंके विद्यालय

मध्ययुग के अन्तिम भाग में जब यूरोपमें व्यावसायिक उन्नति होने लगी तो गाँवके किसान और निम्न वर्गके लोग भाग भागकर अपने सामन्तोंको छोड़ छोड़कर नगर उप-नगरोंमें आने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि इन लोगोंने अपने-अपने संगठन करके व्यावसायिक वर्ग बना लिए और एक नया 'बर्घर वर्ग' या 'परदेशी नागरिक संघ' बन गया जो विद्यामें पादरियोंके समान और रहन सहनमें सामन्तोंके समान हुआ। इन वर्गोंका प्रभाव इतना बढ़ा कि धीरे-धीरे राज-शासनमें भी इनकी सम्मति ली जाने लगी। इन औद्योगिक वर्गोंने अपने-अपने व्यवसायके लिए शिक्षार्थी प्रणाली पर विद्यालय खोल दिए। शिक्षार्थी प्रणाली यह थी कि कोई भी शिक्षार्थी पहले अपने शिक्षक-स्वामीके घर जाकर व्यवसाय सीखता था। इसकी अवधि भी विभिन्न

व्यवसायोंके अनुकूल भिन्न-भिन्न थी। जैसे रसोइएके लिए दो वर्ष। कपड़ों पर बेल बूटे बनाने वालेके लिए ८ वर्ष और सुनारके लिए १० वर्ष। शिक्षार्थी-अवस्थामें कोई वेतन नहीं दिया जाता था किन्तु शिक्षार्थीको यह अधिकार अवश्य था कि यदि उसका स्वामी शिक्षक उसके साथ दुर्व्यवहार करे या ठीकसे शिक्षा न दे तो वह उद्योग संघके आगे अपना अभियोग ला सकता था। इस शिक्षार्थी अवस्थाके पश्चात् वह फेरीवाला बनकर अपने स्वामीके लिए काम करता हुआ पारिश्रामिक भी ले सकता था किन्तु उसे स्वतंत्र रूपसे व्यवसाय करनेका अधिकार नहीं था। इस अवधिके पश्चात् उद्योग-संघकी ओरसे उसकी परीक्षाली जाती थी जिसमें उसे अपने कौशलके सर्वोत्तम प्रतीक स्वरूप कोई वस्तु बनाकर उपस्थित करनी पड़ती। उसके स्वीकृत हो जाने पर स्वतंत्र व्यवसाय करने का अधिकारी मान लिया जाता था। फेरीवालोंकी संख्या अधिक न बढ़ने देनेके लिए यह नियम था कि कोई भी अपने साथ एक से अधिक शिक्षार्थी नहीं रख सकता था।

क्रमशः इन उद्योग संघोंके पुरोहितोंने नए प्रकारके विद्यालय प्रारंभ कर दिए जिनमें इन व्यवसायियोंके बच्चे तो थे ही पर बाहरके बच्चे भी लिए जाने लगे। आगे चल कर इन उद्योग-संघोंके विद्यालय बर्घर विद्यालयों (परदेसी नागरिक संघोंके विद्यालयों) के साथ मिल गए और उनमें कुछ व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाने लगी विशेषरूपसे

लिखने और गिनने की।

एक और प्रकारकी संस्थाएँ भी इस युगमें जन्म ले रही थीं जिन्हें चैण्ट्री स्कूल (जय-विद्यालय) कहते हैं। बहुत से धनिकोंने उन पुरोहितोंके पालन-पोषणके लिए कुछ जागीरे दे दी थीं जो उनके पितरोंके आत्माकी तृप्तिके लिए जप किया करते थे! ये पुरोहित दिन-रात तो जप करते नहीं थे, इस लिए शेष समय में अन्य विषय पढ़ाते थे। प्रारंभमें तो इन विद्यालयोंमें कोई शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु पीछे ग्राम पादरियों तथा दीनोंके बच्चोंके अतिरिक्त अन्य सबसे शुल्क लिया जाने लगा। ये विद्यालय भी पीछे जाकर वर्घर विद्यालयोंमें सम्मिलित हो गए जिनमें पढ़ाने वाले तो पादरी ही थे किन्तु उनका प्रबंध नागरिकोंके ही हाथोंमें था और जिनमें व्यवसायी वर्गके अनुकूल व्यवहारिक शिक्षा भी दी जाती थी। पादरियोंने इस प्रकारके विद्यालयोंका यद्यपि घोर विरोध किया किन्तु विद्यालयों की संख्या बढ़ती ही गई। इन्हींके द्वारा भावी व्यावहारिक तथा लौकिकके शिक्षा देने वाले विद्यालयों का प्रादुर्भाव हुआ।

मानववादी शिक्षा

चौदहवीं शताब्दिके प्रारंभमें ज्ञान-विज्ञानके प्रसारकी ऐसी लहर उठी जिसने पादरियोंके पारलौकिक ज्ञानकी संकुचित-सीमाका उल्लंघन करके इस संसार और समाजकी समस्याओं पर विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। व्यक्तिवादके

आदर्शमें भी संवर्द्धन हुआ। सांसारिक जीवनमें सुख उपलब्ध करनेकी चेष्टाएँ होने लगीं तथा प्रत्येक सिद्धान्त और विचारकी तर्कयुक्त मीमांसाकी जाने लगी। इस नयी लहरने नए जागरणकी सृष्टिकी और उसके आधार पर ही इस कालका नाम ही जागरण युग पड़ गया। ज्ञान और विद्याकी पुनरावृत्ति होने लगी। यह समझा जाने लगा कि यूनान और रोमके प्राचीन विद्वानोंने जिस साहित्यकी सृष्टिकी थी उसमें शुद्ध ज्ञान तथा विज्ञानका अपरिमित कोष निहित है। फिर क्या था—ईसाई मठ, गिरजाघर और प्रासाद छान डाले गए और जितने ग्रन्थ मिले सबकी बढ़े वेगसे बहुगुणित प्रतिलिपियाँ कराई जाने लगीं। इस आन्दोलनके प्रवर्तक लोग मानववादी (ह्यूमेनिष्ट) कहलाए और इन प्राचीन ग्रन्थोंके आधार पर दी जाने वाली शिक्षा भी मानववादी शिक्षा कहलाई जाने लगी।

इस शिक्षाका श्रीगणेश इतालियासे हुआ और इस जागरणयुगके विशिष्ट प्रतिनिधि पेत्रार्क (१३०४-१३७४) और बोकेशियो (१३१३-७५) हुए जिन्होंने लैटिनके प्राचीन ग्रन्थोंका पुनरुद्धार करके उनके शिक्षणकी व्यवस्थाकी। पीछे जब १३९६ ईसवीमें पूर्वी सम्राट्का राजदूत बनकर ख्रूसोलोरस (क्राइसोलोरस—१३५० से १४१५ ई०) इतालियामें आया तो उसने यूनानी साहित्यका भी व्यापक प्रचार किया।

इतालियामें विभिन्न नगरोंके नगरपतियोंने अपनी अपनी राजसभाके अधीन ऐसे मानववादी विद्यालय खोल दिए थे

जिनमें विक्तोरिनो दफेंत्रे (१३७८-१४४६ ई०) का मन्तुश्रामें स्थित विद्यालय सर्वाधिक प्रसिद्ध था। इन राजकीय विद्यालयोंमें व्यवस्था यह थी कि कोई विद्वान् किसी राजकुमारका अध्यापक बना कर बुला लिया जाता था और फिर राजपरिवार तथा सामन्तपरिवारोंके बच्चे उसे पढ़ानेके लिए सौंप दिए जाते थे। विक्तोरिनो दफेन्त्रेने अपने आश्रयदातासे आज्ञा लेकर अपने मन्तुआ विद्यालयमें अपने मित्रोंके बच्चे तथा अन्य मेधावी बालक भी भरती कर लिए थे जिनमें वह पिताके समान अपने समस्त शिष्योंके लिए भोजन, वस्त्र और स्वस्थ जीवनका भी प्रवन्ध करता था और उनके साथ खेलकूद आदिमें भी भाग लेता था। उसका उद्देश्य यह था कि विद्यार्थियोंकी नैतिक भावनाका मान बराबर ऊँचा बना रहे। उसका लक्ष्य था कि मस्तिष्क, शरीर और सदाचारकी एक साथ घुली मिली अभिवृद्धि हो। यद्यपि यह उद्देश्य यूनानियोंकी "उदार-शिक्षा" से मिलता-जुलता ही था किन्तु अन्तर यही था कि विक्तोरिनो अपने छात्रोंकी योग्यताके व्यावहारिक और सामाजिक पक्ष पर भी आग्रह करता था और उसकी इच्छा थी कि मेरे शिष्य चेतन क्रिया और सेवाका जीवन व्यतीत करें, केवल ज्ञानलवदुर्विदग्ध पण्डितम्मन्य और कोरे व्याख्याता न बने रहें। उसका विश्वास था कि यूनान और रोमके साहित्य तथा व्याकरणके अध्ययनसे उक्त उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है। इसलिए वहाँ प्रारंभसे ही बालकोंको लैटिनमें बात करना सिखाया जाता था, अक्षरोंके

खेलका अभ्यास कराया जाता था और शुद्ध उच्चारण तथा उचित स्वराघात और सुस्वरताकी व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। जैसे हमारे यहाँ संस्कृतके पण्डित लोग अपने बालकोंको अष्टाध्यायी और अमरकोष रटवा देते हैं उसी प्रकार वहाँ भी दस वर्षकी अवस्थासे पहलेही बच्चोंको इस प्रकार प्राचीन काव्यके सरल अंश कण्ठाग्र करा दिए जाते थे कि वे शुद्धताके साथ कण्ठाग्र अंशोंका पाठ कर सकें। यह पाठ करनेका कार्य अवस्थावृद्धिके साथ अभिवृद्ध होता चला जाता था। उसका फल यह होता था कि विद्यार्थीका शब्द-भाण्डार अत्यधिक बढ़ जाता था और उसे लय-ज्ञान हो जाता था। बड़े होने पर ये बालक लैटिनके विभिन्न लेखकोंकी कृतियोंका अध्ययन करते थे और फिर यूनानी ग्रन्थकारों और पादरियों द्वारा रचित साहित्यका अध्ययन करते थे। उन्हें चित्रकला भूमिमाप और क्षेत्र-गणितसे संबंध रखने वाले अभिवृद्ध गणितका भी ज्ञान कराया जाता था। पुस्तकोंके अभावमें सारी शिक्षा बोल बोलकर लिखाकर दी जाती थी। यद्यपि आजकलके मनोवैज्ञानिक लोग बालकोंकी प्रवृत्ति-परीक्षाके लिए आकाश सिर पर उठाए हुए हैं किन्तु विक्तोरिनो ही पहला यूरोपियन शिक्षक था जिसने सर्वप्रथम छात्रोंकी योग्यता, रुचि और भावी-वृत्तिका परीक्षण करके तदनुरूप विषयों और तदनुकूल शिक्षा विधियोंका निरूपण किया था। शारीरिक और नैतिक शिक्षा भी वह उतने ही पूर्णरूपसे देता था जितनी बौद्धिक शिक्षा। उसने अपने

यहाँ मल्लयुद्ध, नृत्य, कन्दुक क्रीड़ा, दौड़ और कूद, आदि अनेक खेलोंका प्रचलन किया था जिनका मुख्य उद्देश्य यही था कि बौद्धिकके साथ-साथ मानसिक शक्तिका भी अभिवर्द्धन हो। उसने स्वाचरण और उपदेशों द्वारा छात्रोंमें पवित्रता, आदर और धार्मिक आचार-व्यवहारकी भावना भरी। उसका विश्वास था कि केवल ईसाई ग्रन्थोंसे ही सत्य और नैतिक सौन्दर्यकी शिक्षा नहीं दी जा सकती प्रत्युत प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थोंसे भी यह शिक्षा संभव है। शनैः शनैः यह मानववादी शिक्षा विश्वविद्यालयोंमें भी फैलने लगी। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दिके अन्त तक यह उदार शिक्षा भी स्थिर, गतिशून्य और परिमित हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि ढलते-ढलते व्याकरण और प्रसिद्ध वक्ता सिसरोके प्रवचनोंके अभ्यास तक ही यह शिक्षा बँध गई यहाँ तक कि इस मानववादी शिक्षाको दुर्नाम देकर लोग इसे सिसरोवादी शिक्षा कहने लगे जिसमें सिसरोको आदर्श मानकर एक व्यवस्थित शैलीकी शिक्षा दी जाती थी और सिसरोकी लैटिनमें ही बातचीत करनेका अभ्यास कराया जाता था यहाँ तक कि वाक्य-निर्माण अलंकार और शब्द-योजना सब कुछ सिसरोके वाक्योंके आधार पर ही होती थी। यह मानववाद जहाँ धीरे-धीरे इतालियामें अस्त हो रहा था वहाँ वह मुद्रण यंत्रोंके आविष्कारके साथ-साथ फ्रांस इङ्गलैण्ड तथा ट्यूतोनी देशोंमें वेगसे उदय हो रहा था। किन्तु उन देशोंमें विशेष कर जर्मनीमें उनका उद्देश्य व्यक्तिगत उन्नति, आत्मसंतोष

न होकर सामाजिक और नैतिक हुआ। इस मानववादसे उनका उद्देश्य यही था कि समाजकी नैतिक और धार्मिक समुन्नति हो। फ्रांसमें फ्रैंसिस प्रथम (१५१५-४७ ई०) ही इस मानववादके सर्वप्रथम पोषक थे जिनके संरक्षणमें बूद्यू (१४६८-१५४० ई) जैसे प्रतिभाशाली मानववादी शिक्षा शास्त्रियोंने तथा कारदेरीश्र (१४७९-१५६४ ई०) और रैमू (१५१५-७२ ई०) जैसे शिक्षाचार्यों ने प्राचीन ग्रन्थोंकी प्रतियाँ एकत्र करके उनका अनुवाद किया और सम्पादन करके प्रकाशन कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांसके बहुतसे विद्यालयोंने इस नयवादको स्वीकार कर लिया। जर्मनीमें तो इसका विस्तार हो ही गया था और वहाँ प्रायः सभी विश्वविद्यालयोंने इस मानववादका लोहा मान लिया था। हिरोनीनियनोंने जो विद्यालय दीनोंकी शिक्षाके लिए चलाए थे उनमें प्राचीन सांस्कृतिक ग्रंथ भी पढ़ाए जाने लगे और वहाँ इरासमुस (१४६७-१५३१ ई०) इस मानववादी शिक्षाका नेता हुआ। उसने बहुतसी पाठ्यपुस्तकें, व्यंगनाटक और शिक्षा सिद्धान्त-संबंधी पुस्तकें लिखीं। इन्हीं मानववादी विद्यालयोंमेंसे एक नए प्रकारके विद्यालय निकल चले जिन्हें उच्च शिक्षालय या जिमनाशियम कहते हैं। इनका प्रवर्तन मैलांकथोम (१४९७-१५६०) ने किया किन्तु इनकी व्यवस्थाका वास्तविक श्रेय स्ट्रास वर्गके स्टुर्मको (१५०७-८९) है। उसने १० वर्गोंका एक पाठ्यक्रम निकाला जिसमें ६ या ७ वर्षकी अवस्थामें विद्यार्थी भरती किए जाते थे। इनका

उद्देश्य था पवित्रता, ज्ञान और धाराप्रवाह लैटिन बोलनेकी शिक्षा देना। पवित्रताकी शिक्षाके लिए तीन वर्ष तक लूथरका धर्मादेश जर्मन भाषामें सिखाया जाता था और तीन वर्ष तक लैटिनमें। चौथे और पाँचवे वर्षोंमें रविवारी प्रवचन पढ़े जाते थे और जेरोमीके पत्र भी पाँचवे ही वर्षमें पढ़े जाते थे। छठे वर्षसे लेकर अन्त तक सेण्टपॉलकी पत्रिकाओंका ध्यानपूर्वक अध्ययन होता था। ज्ञान और भाषणकलाके लिए चार वर्ष तक लैटिन व्याकरण चलता था। चौथे वर्ष शैलीकी शिक्षाके साथ-साथ सिसरो, वर्जिल आदि बड़े-बड़े साहित्य-कारोंकी कृतियोंका भी अध्ययन कराया जाता था। पत्र लिखने और शास्त्रार्थ तथा अभिनय करनेकी शिक्षा भी चौथे वर्षहीमें दी जाती थी। पाँचवे वर्षमें यूनानी भाषा सिखाई जाती थी और तीन वर्ष व्याकरण सीखनेके पश्चात् डिमॉस-थेनिस (डिमोस्थिनीज) के साथ-साथ सभी यूनानी नाटक-कार, होमर तथा थसुदिदेस (थूसिडायडेस) का अध्ययन प्रारंभ हो जाता था।

शनैः शनैः यह शिक्षा भी बँधकर कृत्रिम तथा नीरस हो गयी किन्तु इस शिक्षाका प्रभाव अत्यधिक हुआ। इङ्गलैण्ड भी इस प्रभावसे अछूता न रहा तथा ऑक्सफार्ड और कैम्ब्रिजमें यूनानी भाषाकी शिक्षा प्रारंभ कर दी गयी। यहाँ तक कि राजपरिवार भी इस प्रभावसे न बच सके। वहाँ भी क्रमशः यह मानववादिता परिमित होकर बँध गई। इसी मानववादी सिद्धान्तके आधार पर अमेरिकाके प्रदेशोंमें भी

व्याकरण-विद्यालय खोले गए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानववादी आदर्श किस प्रकार धीरे धीरे अपने प्राचीन गौरव और उदारता से गिर कर कितने क्षुद्र और संकुचित हो गए। पारलौकिक शिक्षाका स्थान लिया इहलौकिक विषयोंकी प्रवृत्तिने, सामाजिक तथा व्यक्तिगत उन्नतिने और प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थों के अध्ययन ने। उत्तरीय देशोंमें इस मानववादिताने केवल सामाजिक संस्कारका ही रूप धारण किया जहाँ यूनानी भाषाके अध्ययनके साथ साथ नए और पुराने टेस्टामेण्ट (ईसाई धर्म ग्रन्थों) के अध्ययन की भी प्रवृत्ति बढ़ी। सोलहवीं शताब्दिके मध्यमें ही आलोचना, परीक्षण और बौद्धिक रचना की प्रवृत्ति मन्द पड़ती जा रही थी और धीरे धीरे १७ वीं शताब्दिके प्रारंभ तक यह मानववाद संकीर्ण और परिधिबद्ध हो गया। प्राचीन साहित्य ग्रन्थोंके अध्ययन में व्याकरण, शब्दसम और शैलीपर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। ग्रन्थ विषयसे अधिक उसके रूपकी अधिक मीमांसा होने लगी और केवल रटना ही एक प्रणाली बच रही। शिक्षाके क्षेत्रमें इस मानववादिताने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था किन्तु १७ वीं शताब्दिके जन्मते ही इसने जो रूप धारण किया उसने इसमें पुनः सुधारकी आवश्यकताका अनुभव कराना प्रारंभ कर दिया।

—:***:—

सुधार युगमें शिक्षा

मानववादी शिक्षकोंने उत्तरीय प्रदेशोंमें जो सुधार उपस्थित किए उनसे प्राचीनतावादी पादरी बिगड़ खड़े हुए और उन लोगोंने भरसक गिरजाघरों की अन्तरंग व्यवस्थामें किसी भी प्रकारका सुधार न होने दिया। किन्तु शिक्षित जनता सुधारवादियोंके साथ थी। फलस्वरूप कैथोलिक ईसाईयोंके विरुद्ध एक नया सुधारक ईसाई मण्डल स्थापित हो गया। प्रसिद्ध धार्मिक विद्रोही मार्टिन लूथर (१४८३ से १५४६ ई) भी पहले तो अरस्तू और विद्वद्वादका विरोधी रहा किन्तु दो वर्ष पश्चात् उसने पोप और कौंसिल दोनोंका विरोध किया और तत्कालीन युगकी मानववादी और व्यक्तिवादी धारामें बह चला। जनताकी शिक्षाके लिये पहले तो उसने सार्वदेशिक भाषामें बाइबिलका अनुवाद किया और फिर जनसाधारणकी शिक्षाके लिए उसने दो प्रश्नोत्तरी पाठ्यक्रम (कैटेशिज्म) निर्धारित किए—एक सयानोंके लिए और दूसरा बच्चोंके लिए। इसके साथ साथ उसने बहुतसे पत्रक, पत्र और भाषण भी लिखे जिनमें शिक्षा और शिक्षण-विधियोंका प्रासंगिक उल्लेख था। किन्तु उसके शिक्षा-संबंधी विचारोंको व्यक्त करनेवाले प्रमुख उपादान उसके ये पत्र और प्रवचन ही थे। ईसाई विद्यालयों की ओर से जर्मन नगरोंके नगरपतिओंके नाम पत्र (१५२४ ई०) और 'बच्चोंको विद्यालय भेजनेके कर्तव्यपर प्रवचन' (१५३० ई०)

लूथरके मतसे शिक्षाका उद्देश्य था राज्यकी तथा धर्मकी समान रूपसे भलाई करना। वह चाहता था कि विद्यालयोंसे भद्र नागरिक और धर्मात्मा पुरुष तैयार होकर निकलें और इसीलिये उसका मत था कि जनताके व्ययसे ऐसे सार्वजनिक विद्यालय खोले जायँ जिनमें धनी और दरिद्र समान रूपसे शिक्षा ग्रहण कर सकें। जिन शिल्पी परिवारके बालकोंको स्कूलमें पूरा समय देना संभव न था उनके लिये यह व्यवस्था की गई थी कि वे दिनमें १-२ घण्टेके लिये ही स्कूल आ जाया करें। अध्यापक, उपदेशक और लोकसेवक बन सकनेवाले मेधावी बालकोंके लिये उसने दूसरा ही सांस्कृतिक पाठ्यक्रम निर्धारित किया था। यों तो लूथरनें बाइबिल और प्रश्नोत्तरी पाठ्यक्रमकी व्यवस्था की थी किन्तु उत्तरीय मानववादी होनेके कारण उसने लैटिन, यूनानी और हिब्रू भाषाओंके अध्ययनकी भी सम्मति दी थी, भाषण-कला और शास्त्रार्थके अभ्यासका भी समर्थन किया था और इतिहास, प्राकृतिक विज्ञान, गीत, वाद्य तथा फुरतीले व्यायामोंको भी प्रोत्साहन दिया था। उसका मत था कि सामाजिक संस्थाओंका अध्ययन करनेके लिये इतिहासका, ईश्वरकी सर्वशक्ति और दैवी कृपालुताके विस्मयजनक प्रभावका साक्षात्कार करानेके लिये प्राकृतिक विज्ञानका, शरीर तथा आत्माकी स्वस्थताके लिये फुरतीले व्यायामका, और चित्तसे सब चिन्ताओं और विषादोंको मिटानेके लिये संगीत-शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिए। उसकी शिक्षण-विधिमें

बल-प्रयोगका नितान्त निषेध था। वह बालकोंकी स्वाभाविक गति और प्रवृत्तिके अनुकूल ही शिक्षा देनेके पक्षमें था, उनपर अधिकार जमानेके पक्षमें नहीं। व्याकरणका ज्ञान भाषा-द्वारा करानेके बदले वह अभ्यास-द्वारा सिखानेके पक्षमें ही था। लूथरके पश्चात् उसके साथियोंने उसके शिक्षाके आदर्शोंके आधारपर स्थान स्थानपर विद्यालय खोल दिए। सबसे पहले लूथरके जन्मपुर आईस्लेबनमें मैलाङ्कथौनने उसके शिक्षा-सिद्धान्तों और व्यवहारोंको सक्रिय रूप देनेके लिये विद्यालय खोला और फिर तो इन विद्यालयोंकी बाढ़ सी आ गई, देखते देखते सैकड़ों विद्यालय खुल गए।

ज्विंग्ली और कालविन

लूथरसे भी अधिक प्रभावशाली विद्रोह किया ज्विंग्ली (१४८४ से १५२१ ई०) ने। उसका विश्वास था कि बाइबिलमें रूढ़िगत धर्म-विज्ञानके संबंधमें कुछ भी नहीं है। अस्तु, उसने मूल यूनानी और हिब्रूका अध्ययन किया। इसके पश्चात् ज्यूरिखके गिरजाघरको अपने हाथमें लेते ही उसने एक एक करके समस्त रूढ़ियाँ तोड़ डालीं यहाँतक कि उसने सामूहिक प्रार्थना भी बन्द कर दी और सार्वजनिक शिक्षाके लिये बहुत से मानववादी विद्यालय खोल डाले। १५२३ ई० में उसने ईसाई युवकोंके लिये जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया उसने उसमें और सब विषय तो लूथरवाले

ही लिए किन्तु इतिहास छोड़ दिया और गणित तथा भूमाप ये दो विषय और जोड़ दिए। इस विद्रोहके फलस्वरूप वह युवावस्थामें ही मार डाला गया। उधर दूसरे विद्रोही कालविन (१५०९-६४ ई०) का भी प्रभाव बढ़ रहा था। वह भी गिरजाघरसे विद्रोह कर चुका था और उत्तरीय मानववादितासे प्रभावित था। जब वह जेनेवाका नागरिक और धार्मिक शासक होकर आया तो उसने बहुत से महाविद्यालय स्थापित किए। कालविनके गुरु कौडेरियसने बच्चोंके लिये 'कौलोकीज़' या 'बातचीत' नामकी पुस्तकें लिखी थीं जिनमें प्रायः सभी विषयोंपर ऐसी बातें दी हुई थीं जिनके आधारपर कोई भी व्यक्ति सरलताके साथ लैटिन बोलना सीख सकता था। कालविनके महाविद्यालयोंका भी प्रायः यही उद्देश्य था कि विद्यार्थियोंमें नैतिक और धार्मिक भावना भरनेके लिये लैटिन सिखाई जाय। वहाँ धार्मिक गीत गवाए जाते थे, सार्वजनिक प्रार्थनाएँ होती थीं और नित्य बाइबिलका पारायण भी कराया जाता था। जेनेका विद्यालयकी सात कक्षाओंमें छात्र लैटिन प्रश्नोत्तरीसे वाचन और व्याकरण सीखते थे। उसके पश्चात् वर्जिल, सिसरो, ओविड, सीज़र और लिविका अध्ययन करके लैटिनमें निबंध लिखनेका अभ्यास करते थे। चौथे वर्षमें यूनानी भाषा प्रारंभ कर दी जाती थी और ऊँची कक्षाओंमें तर्कशास्त्र और भाषणकलाकी शिक्षा भी दी जाती थी।

आठवें हेनरीके विद्रोहका शिक्षापर प्रभाव

इङ्गलैण्डमें आठवें हेनरी (१५०९–१५४५ ई०) ने अपनी पत्नीका परित्याग करनेके लिये गिरजाघरपर अधिकार करना चाहा और एक बार जो उसे अधिकार मिला तो उसने पादरी-विद्यालयों तथा अन्य प्रकारके विद्यालयोंकी भूमि और सम्पत्ति सब हड़प ली और शिल्पी-संघोंके विद्यालयोंके साथ साथ तीन सौ व्याकरण-विद्यालय भी समाप्त कर डाले। किन्तु पीछे इनकी पुनः स्थापना हुई।

यीशू समिति

इसीके साथ साथ पोपके अधिकारको दृढ़ करनेके लिये यीशू समिति स्थापित हुई, जिसने अपना संगठन दृढ़ करके माध्यमिक वर्गके विद्यालय प्रारंभ किए। इन विद्यालयोंमें एक तो निम्न महाविद्यालय और दूसरे उच्च महाविद्यालय थे। निम्न महाविद्यालयोंमें दससे चौदह वर्षकी अवस्था तकके विद्यार्थी भरती किए जाते थे। ये विद्यार्थी पाँच या छः वर्ष तक पढ़ते चलते थे। इनकी पहली तीन कक्षाओंमें लैटिन व्याकरण और थोड़ा सा यूनानी भाषाका अध्ययन कराया जाता था, चौथे वर्षमें कुछ यूनानी और लैटिन कवियों तथा इतिहासकारोंका अध्ययन होता था। अन्तिम कक्षामें दो वर्षतक विशिष्ट प्राचीन ग्रन्थकारोंका विस्तृत अध्ययन कराया जाता था। पीछे सन् १८३२ ई० में इन

विषयोंके साथ साथ सर्वगणित, प्राकृतिक विज्ञान, इतिहास और भूगोल आदि विषय भी जोड़ दिए गए।

उच्च महाविद्यालयोंका पाठ्यक्रम सात या नौ वर्षोंका था जिनमें से पहले तीन वर्षोंमें दर्शन और पीछेके चार या छः वर्षोंमे धर्म-विज्ञान सिखलाया जाता था। विचित्र बात तो यह थी कि दर्शनके अन्तर्गत केवल तर्कशास्त्र, तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान, कर्तव्यशास्त्र तथा प्राकृतिक धर्म-विज्ञान ही न थे प्रत्युत बीजगणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति, यंत्रशास्त्र, उच्चगणित, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, ज्यौतिष और शरीर-विज्ञान भी सम्मिलित थे। इस पाठ्यक्रमको सफलतापूर्वक पूरा करनेवालेको शास्त्राचार्य या मास्टर ऑफ़ आर्ट्सकी उपाधि दी जाती थी। दर्शनका पाठ्यक्रम समाप्त करनेपर इन यीशूवादियोंको धर्म-विज्ञानका कार्य करनेसे पूर्व निम्न महाविद्यालयोंमें पाँच या छः वर्षतक शिक्षकका काम करना पड़ता था। धर्म और विज्ञानके पाठ्यक्रममें चार वर्षतक धर्मग्रंथ, हिब्रू भाषा तथा अन्य प्राच्य भाषाओं तथा गिरजाघरोंका इतिहास, धर्म, न्याय और धर्म-विज्ञानकी विभिन्न शाखाओंका अध्ययन करना पड़ता था। इसके पश्चात् भी यदि कोई चाहता तो और भी दो वर्षतक दर्शन और धर्मविज्ञानका अध्ययन करके प्रबंध लिख सकता था और यदि उस प्रबंधकी परीक्षा होनेपर उसे सफलता मिलती तो उसे डौक्टर ऑफ़ डिविनिटी (दैवी ज्ञानाचार्य) की उपाधि दे दी जाती थी।

इस थीशूप्रणालीकी शिक्षामें जीवनके अट्ठारहसे तीस वर्ष लग जाते थे। इन विद्यालयोंमें प्रायः मौखिक शिक्षा ही दी जाती थी जिसे विद्यार्थी लिख या रट लेते थे। शिक्षणके लिये व्याख्या-प्रणालीका ही प्रयोग होता था अर्थात् जिस विषयपर व्याख्यान देना होता था उसकी प्रारंभमें व्याख्या कर दी जाती थी। पहले सम्पूर्ण पाठ्यभाग या विषयकी साधारण व्याख्या कर दी जाती थी, फिर वाक्योंकी विस्तृत व्याख्या होती थी। इसके पश्चात् अन्य लेखकोंके विचारों से उसकी तुलना की जाती थी। तत्पश्चात् उस भागपर सूचनात्मक टिप्पणियाँ दे दी जातीं थीं। तब उसके आलंकारिक विभागका अध्ययन किया जाता था और अन्तमें उससे कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता था। उनका सिद्धान्त ही यह था कि 'आवृत्ति ही शिक्षाकी माता है।' इसलिये प्रतिदिन पिछले दिनका पाठ दोहरा दिया जाता था और पाठके अन्तमें पाठकी पुनरावृत्ति करा दी जाती थी। यहाँ तक कि सप्ताहके अन्तमें साप्ताहिक पाठकी और वर्षान्तमें वर्ष भरके पाठकी आवृत्ति कर दी जाती थी। इस आवृत्ति पुनरावृत्तिकी नीरसताको दूर करनेके लिये दो दो विद्यार्थियोंकी जोट बाँध दी जाती थी जो परस्पर एक दूसरेसे शास्त्रार्थ करते हुए विषयको पक्का करते चलते थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक वादविवादोंका भी आयोजन किया जाता था। यह प्रणाली अत्यन्त व्यवस्थित, रुचिकर और भावपूर्ण तो थी किन्तु साथ ही उसमें अधिकारकी मात्रा

अधिक थी और नवीनताका अभाव था । सबसे बुरी बात यह थी कि इसमें व्यक्तित्वके विकासका कोई स्थान न था। थोड़े ही दिनोंमें ये यीशू-समितिवाले अभिमानी और झगड़ालू हो गए और सन् १७७७ में पोपने यह समिति ही भंग कर डाली।

पोर्ट रौयलीयोंकी शिक्षा-व्यवस्था

इन यीशूवादियोंके विरोधमें लाउवेन विश्वविद्यालयके आचार्य कार्नेलियस जान्सेनके अनुयायी जान्सेनियोंने सन् १६२१ में जान्सेनिस्ट्स (जान्सेनवादी) नामकी एक धार्मिक संस्था स्थापित की । इन्होंने उस समयके गिरजाघरोंकी रूढ़ियोंका विरोध करते हुए देकार्तेके बुद्धिवादी दर्शनका आश्रय लिया । उनका कथन था कि केवल इने गिने लोगोंको छोड़कर शेष सब लोग दूषित और भ्रष्ट हैं। इनसे प्रभावित हो कर कुछ जानसेनियोंने शेवरय़ के पोर्ट रौयल नामक ईसाई मठमें एक नए ही प्रकारके विद्यालय खोल दिए । इन विद्यालयोंमें बालकोंको इस प्रकार रक्खा जाता था कि वे सांसारिक प्रलोभनोंसे सर्वथा दूर बने रहें । इस आदर्शकी पूर्त्तिके लिये एक विद्यालयमें केवल बीससे पचीस विद्यार्थी तक लिए जाते थे और पाँच या छः विद्यार्थी एक अध्यापकके अधीन कर दिए जाते थे जो चौबीस घंटे उनकी देखरेख करता था । इन विद्यालयोंको नन्हें विद्यालय (लिटिल स्कूल्स) भी कहते हैं । इन बुद्धिवादी विद्यालयोंमें तर्क या समझको रटनेसे अधिक

महत्त्व दिया जाता था। जो बात बुद्धि-द्वारा तर्क-द्वारा संगत न जान पड़े वह इनके लिये अग्राह्य थी। इसी प्रकार चरित्रको ज्ञानसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। दिखावटी चमकदार शिक्षा देनेके बदले ये लोग शाश्वत और चिरस्थायी शिक्षाके पक्षमें थे। इन विद्यालयोंमें सर्वप्रथम शिक्षार्थीको देशी भाषाकी शिक्षा दी जाती थी, तत्पश्चात् फ्रांसीसी भाषामें लिखे हुए अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरणके द्वारा लैटिनका अध्ययन कराया जाता था और फिर देशी भाषा-द्वारा ही लैटिनके ग्रंथकारोंका ज्ञान कराया जाता था। यूनानी साहित्यकी शिक्षा भी इसी क्रमसे दी जाती थी। तर्कशक्ति पुष्ट करनेके लिये सयाने शिष्योंको तर्कशास्त्र और ज्यामितिकी शिक्षा दी जाती थी। पाठय-क्रम अधिकांश साहित्यिक था और विज्ञानकी शिक्षापर बहुत ध्यान नहीं दिया जाता था। इन पोर्ट रौयली शिक्षकोंने वर्ण-माला-क्रमसे भाषा सिखानेकी प्रणाली छोड़कर ध्वन्यात्मक प्रणाली (फ़ोनेटिक मेथड) से पढ़ाना प्रारंभ किया, प्रतियोगिता और पुरस्कारकी प्रथा बन्द कर दी। इसीलिये इनके छात्रोंमें वह स्फूर्ति, वह संलग्नता और वह स्निग्धता न मिल सकी जो योशू विद्यालयोंमें थी। इन पोर्ट रौयलीयोंने बहुतसे शिक्षा-ग्रंथ भी लिखे जिनमें इन्होंने अपने सिद्धान्तोंकी विस्तृत व्याख्या भी की है। योशूवादियों और पोर्ट रौयलियोंने केवल माध्यमिक और उच्च शिक्षाकी ओर अधिक ध्यान दिया, और प्रारंभिक शिक्षाकी

ओरसे उदासीन ही रहे किन्तु जीन बपतिस्ते द ला साले (१६५१ से १७१६ ई०) ने ईसाई बंधु नामकी संस्था द्वारा प्रारंभिक पाठशालाएँ खोल दीं। इस संस्थाका प्रारंभ किया पाँच अध्यापकोंने, जिन्होंने सन् १६७६ ई० में ह्रीम्स नगरमें दीनों और अनाथोंके लिये विद्यालय खोला। शनैः शनैः ऐसे विद्यालयोंकी संख्या बढ़ती ही गई। ल सालेने अध्यापकोंकी बढ़ती हुई माँग पूरी करनेके लिये सन् १६८५ में अध्यापक कक्षा (सेमीनरी फ़ौर स्कूल मास्टर्स) स्थापित की और विरोध होते हुए भी ये संस्थाएँ चल निकलीं। ल सालेने पेरिसमें एक ईसाई विद्यालय स्थापित किया जिसमें उत्साही दीन विद्यार्थियोंको चित्रकला, ज्यामिति और वास्तुकला सिखाई जाती थी। इसीके साथ उच्चतर माध्यमिक शिक्षाके लिये आश्रम-विद्यालय भी स्थापित कर दिए गए जहाँ विद्यार्थियोंके रहनेका भी प्रबंध था। सन् १७०५ ई० में जब जब ल साले जाकर संतयोनमें वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने लगे तब उन्होंने वहाँ अपना प्रसिद्ध आश्रम-विद्यालय स्थापित किया जहाँ बालकोंको युद्धविद्या, कृषि, व्यापार तथा अन्य अनेक प्रकारकी औद्योगिक शिक्षा दी जाती थी।

इन ईसाई बंधु-विद्यालयोंमें विद्यालयके आचार (कौंडक्ट औफ् स्कूल्स) नामक स्थिर नियमोंके अनुसार पढ़ाई होती थी यद्यपि पीछे समय-समय पर इन नियमोंमें परिवर्त्तन भी होते ही रहे। इन ईसाई बन्धुओंका शैक्षणिक उद्देश्य प्रधानतः धार्मिक था और इस उद्देश्यकी

प्राप्तिके लिये साधन थे कठोर नियन्त्रण, आदर्श आचरणके उदाहरण और प्रश्नोत्तरी शिक्षा। पाठ्यक्रममें अन्य तत्कालीन विषयोंके साथ साथ और भी व्यावहारिक विषय जोड़ दिए गए थे। पढ़ने, लिखने, गणित, धर्मशिक्षा और सदाचारके साथ सर्वगणित, इतिहास, वनस्पति-विज्ञान, भूगोल, चित्र-कला, वास्तुकला, जल-विज्ञान, नौका-शास्त्र तथा अन्य यांत्रिक विषय भी सिखाए जाते थे और व्यावसायिक विद्यालयोंमें शिल्प और उद्योगकी शिक्षा दी जाती थी। ल-सालेने साइ-मल्टेनिअस मेथड (समवेत शिक्षा-प्रणाली) का प्रयोग करके शिक्षाक्रममें उचित सुधार भी कर दिया था। समवेत-प्रणाली का अर्थ यह था कि विद्यार्थियोंको उनकी योग्यताके अनु-सार श्रेणीबद्ध कर दिया जाय जहाँ वे एक ही अध्यापकके अधीन रहकर एक साथ एक समयमें एक ही पुस्तकका एक ही पाठ पढ़ें। उस समयतक अध्यापकोंको भी तत्का-लीन प्रणालीके अनुसार समस्त विद्यार्थियोंको एक एक करके अलग अलग पढ़ाना पड़ता था जिससे विशेष परिश्रम भी होता था और पुनरावृत्ति भी बहुत होती थी। इस समवेत प्रणाली या वर्ग प्रणालीसे बहुत श्रम बच गया। इस प्रकार आजकलकी कक्षा या वर्ग प्रणालीका प्रवर्तन सर्वप्रथम योरोपमें ल-सालेने ही किया। इसीके साथ-साथ शिक्षण कलाका भी प्रवर्तन इन ईसाई बंधुओंके शिक्षण-विद्यालयोंमें ही हुआ और शिक्षित अध्यापक विद्यालयोंमें पढ़ानेके लिये भेजे जाने लगे। ईसाई बंधुओंकी इन पाठशालाओंका बड़ा प्रचार हुआ

और इस प्रकारकी पाठशालाएँ अनेक स्थानों पर खुल गईं।

इस सुधार युगके इन शिक्षान्दोलनोंका परिणाम यह हुआ कि शिक्षाका उद्देश्य धार्मिक हो गया और जर्मनी, हौलैण्ड, स्कौटलैण्ड तथा अमेरिकाके प्रदेशोंमें राज्यकी ओरसे विद्यालय खुलने लगे और जनताके व्ययपर प्रारंभिक शिक्षाकी व्यवस्था करना राज्यका कर्तव्य समझा जाने लगा। माध्यमिक विद्यालयोंमें भी यद्यपि प्रभाव तो पादरियोंका ही था किन्तु नागरिक भी विद्यालयोंके प्रबंधमें योग देने लगे। विश्वविद्यालयोंमें भी यद्यपि अधिकांश तो कैथोलिक सम्प्रदायके ही पक्षपाती रहे किन्तु कुछमें नए विरोधी विचारोंका प्रवर्त्तन होने लगा। पर यह अवस्था अधिक दिन न टिक सकी। धीरे धीरे इन नई और पुरानी दोनों प्रकारकी संस्थाओंमें शिथिलता आने लगी। केवल पढ़ना ही एकमात्र ध्येय रह गया और पाठ्यक्रम भी बँधसे गए। तर्कके बदले रटन्त प्रणालीको पुनः प्रधानता दी जाने लगी। अधिकारमद चारों ओर फैलने लगा और व्यक्तित्वके विकासका मार्ग पुनः अवरुद्ध हो गया।

—:****:—

शिक्षामें वास्तविकतावाद

सुधार तथा पुनर्जागरणके युगमें जो बौद्धिक जागर्ति हुई थी उसका एक रूप तो था मानवतावाद, जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है किन्तु एक दूसरी भी प्रवृत्ति इसमसे प्रादुर्भूत हुई जिसने प्रारंभिक अवस्थामें वास्तविकतावाद (रीअलिज़म) का रूप धारण किया। व्यक्तिको रूढ़ियों और कठोर विधानोंसे मुक्त करानेका क्रम तो पहलेसे ही चल रहा था किन्तु इन वास्तविकता-वादियोंका मार्ग दूसरा ही था। इन वास्तविकता-वादियों (रीअलिस्ट्स) ने ऐसी विधि खोज निकालनेका प्रयत्न किया जिससे वास्तविक वस्तुओंका ज्ञान हो सके। इस प्रवृत्तिका सबसे अधिक स्पष्ट और अन्तिम रूप था इन्द्रियानुभववाद (सेन्स रीअलिज़म), जिसका तत्त्व यह था कि हमें अपनी इन्द्रियों और तर्कों द्वारा ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, पोथी रटने और रूढ़ियोंमें अंधविश्वास करनेसे नहीं। उनका कहना था कि संसारकी सब वस्तुएँ अलग अलग अध्ययनीय विषय हैं और इसलिये उनका अध्ययन भी अलग अलग होना चाहिए। अतः इस शैक्षणिक वास्तविकतावादमें प्राकृतिक विज्ञानोंकी खोज पर ही विशेष ध्यान दिया गया और यदि इसमें प्रारंभिक वास्तविकतावादी प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा न की गई होती तो इसे वैज्ञा-

निक आन्दोलनका प्रभाव भी कहा जा सकता था। इस वास्तविकतावादके दो पक्ष थे, एक तो मानवतावादी वास्तविकतावाद और दूसरा समाजवादी वास्तविकतावाद।

मानवतावादी वास्तविकतावाद

वस्तुओंका वास्तविक तथ्य समझनेके लिये पिछले खेवेके मानवतावादियोंने यह प्रयत्न किया था कि लिखे हुए शब्दोंमें जिन भावोंकी अभिव्यक्ति होती है उनमें वास्तविक वस्तुओंकी खोज करें। इस उदार मानवतावादका फल यह हुआ कि लोगोंने सांस्कृतिक साहित्यके शब्दों और बँधे हुए रूपोंकी उपेक्षा करके तद्गत वर्ण्य विषयकी ओर अधिक ध्यान देना प्रारंभ किया। यही था मानवतावादी वास्तविकतावाद क्योंकि इसमें सांस्कृतिक काव्योंके विषयका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये लोगोंमें काव्य-विषय-कालीन सामाजिक, भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितिके अध्ययनकी प्रवृत्ति बढ़ चली। और मिल्टन (१६०८-१६७४ ई०) तो कोरे लैटिन वैयाकरणों और कोरे साहित्यकारोंसे चिढ़कर यह कहने लगा था कि साहित्यकी विषय-सामग्रीका ठीक परिज्ञान करनेके लिये लैटिनके कृषिशास्त्रियोंके ग्रन्थ पढ़ाने चाहिएँ और प्राकृतिक इतिहास, भूगोल तथा भैषज्य विज्ञानके ज्ञानके लिये यूनानी ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ पढ़ाने चाहिएँ।

समाजवादी वास्तविकतावाद

सामाजिक वास्तविकतावादियोंका उद्देश्य यह था कि शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि वह छात्रोंको इस वास्तविक संसारमें रहने और जीवन वहन करने योग्य बना सके, जीवनके अवसरों तथा कर्तव्योंके लिये सीधी व्यावहारिक शिक्षा दे सके। इनका विश्वास था कि उच्च समाजके उच्च वर्गको साहित्यिक शिक्षाके साथ साथ मध्ययुगीन वीरताकी शिक्षा भी दी जाय जिससे वह सज्जन भी बन सके। इनका विचार था कि छात्रोंको विद्यालयोंमें पढ़ानेकी अपेक्षा किसी एक घरेलू अध्यापक-द्वारा या देशाटन-द्वारा शिक्षा देनी चाहिए और इसीलिये इन्होंने अपने पाठ्यक्रममें दौत्यकर्म (राजदूतका काम), मुख-सामुद्रिक-शास्त्र (किसीका मुख देखकर उसका स्वभाव जान लेना), अश्वारोहण, बर्छी चलाना और फुरतीले व्यायामके साथ साथ वर्तमान भाषाओं तथा पास-पड़ोसके देशोंकी रीति और आचार-विचार आदि विषयोंको स्थान दिया था। इस प्रकारकी शिक्षाका ठीक विवरण मौण्टेन (१५३३ से १५९२ ईसवी) के "बच्चोंकी शिक्षा" नामक निबंधोंमें मिल सकता है। किन्तु मौण्टेनसे भी अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है जौन लौक (१६३२ से १७०४ ई०) का 'शिक्षा संबंधी कुछ विचार" नामक ग्रन्थ। लौकने महत्त्वके क्रमसे शिक्षाका उद्देश्य रक्खा है, सद्गुण, ज्ञान (सांसारिक ज्ञान), संस्कार और विद्या। उसका कहना है कि यह शिक्षा

केवल ऐसे शिक्षक द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जो स्वयं अच्छे संस्कारोंमें पला हो, जिसे विभिन्न प्रकारके अवसरों और स्थानोंके अनुकूल नागरिक आचरणोंका ज्ञान हो और जो अपने शिष्यको अपने युगकी आवश्यकताके अनुसार इन सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी व्यवस्था करा सके। पाठ्यक्रमके विषयमें उसका मत है कि पुस्तक-ज्ञानके अतिरिक्त उसे सज्जनोंके भी कुछ गुण प्राप्त करने चाहिएँ जैसे नृत्यकला, अश्वारोहण, बर्छी चलाना और मल्लयुद्ध करना।

जिन लोगोंने मानवतावाद या सामाजिक वास्तविकतावादपर लेख या ग्रन्थ लिखे हैं उन्होंने शिक्षाके इन दोनों पक्षोंको इस प्रकार मिला दिया है कि उनका भेद करना अत्यन्त कठिन है। कहा यही जा सकता है कि न तो मानवतावादी ही सामाजिक पक्षको छोड़ना चाहते थे न सामाजिकतावादी मानव पक्षको। मानवतावादी वास्तविकतावादके समर्थक मिल्टनने कहा है कि भाषा और पुस्तककी शिक्षाके साथ साथ पाठ्यक्रमके अन्तमें इतिहास, कर्तव्यशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्मविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान भी सिखाने चाहिएँ एवं ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए जो विद्यार्थीको जीवनके निकटतम पहलुओंसे सम्पर्क करा दे। उसका यह भी विचार है कि इङ्गलैण्ड तथा अन्य देशोंमें विद्यार्थियोंको देशाटन-द्वारा भी ज्ञान प्राप्त कराना चाहिए। पैरेडाइज़ लौस्ट (खोया हुआ स्वर्ग) के जिस रचयिताने काव्यकी उदात्त भूमिकामें अपनी

कल्पना प्रतिष्ठित की थी वही मिल्टन अपने समाजकी पुकारकी भी उपेक्षा न कर सका। उसने विद्यालयोंके सुधारका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये एक आश्रम-विद्यालय स्थापित किया और सन् १६४४ में अपने अध्यापन-अनुभवके आधारपर एक शिक्षा-प्रबन्ध (ट्रैक्टेट औफ् एजुकेशन) लिखा।

मिल्टनका विचार था कि बँधे बँधाए शब्दरूपोंकी रटाई छोड़कर हमें उन विचारों और तथ्योंका अध्ययन करना चाहिए जिनका प्रतिनिधित्व शब्दों-द्वारा होता है। काव्यका भाव समझना, उसका संदेश समझना ही वास्तवमें हमारे अध्ययन का लक्ष्य होना चाहिए और उस अध्ययनसे मानव-व्यवहार और विचारमें जो परिवर्त्तन हो वहीं हमारे लिये ग्राह्य होना चाहिए। इसी सिद्धान्तको आचार्योंने मानवीय सानुभव-ज्ञान कहा है। इसी भावाध्ययनके साथ साथ काव्यकालीन समाज और प्राकृतिक वातावरणके अध्ययनको भी इस दृष्टिसे महत्त्व दिया जाने लगा कि सामाजिक और प्राकृतिक अध्ययनसे काव्यार्थको भली भाँति समझनेमें पूरी सहायता मिल सकेगी। यह भी प्रयास किया जा रहा था कि बालकोंकी शिक्षा इतनी उपादेय हो कि वे अपने सांसारिक जीवनके साथ उसका सामंजस्य स्थापित करके वास्तविक जीवन-निर्वाहमें कुशलता प्राप्त कर सकें और इस उद्देश्यको सफल करनेके लिये यह भी सुझाया गया कि योग्य अध्यापककी देखरेखमें बालकोंको देशी-विदेशी विद्यालयमें थोड़े दिन रख छोड़ा जाय। इस प्रवृत्तिको हम सामाजिक सानुभव

ज्ञान कह सकते हैं। यह मानवीय और सामाजिक अध्ययनकी प्रवृत्ति ही आगे चलकर शिक्षाचार्योंकी परिभाषामें सानुभवज्ञान या इन्द्रियानुभवज्ञान बन गई।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मिल्टनको सुग्गा-रटंतसे बड़ी चिढ़ थी। वह शब्दकी अपेक्षा भावको अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे लैटिन या यूनानी भाषाओंसे चिढ़ थी क्योंकि उसने शिक्षा विषयोंकी जो लम्बी-चौड़ी सूची दी है उसमें विज्ञान, शिल्प, प्रकृति निरीक्षण आदिके साथ साथ लैटिन और यूनानी भाषाके विस्तृत अध्ययनको भी महत्त्वपूर्ण बताया है। यहाँतक कि उसने यह योजेना बनाई कि लैटिनके द्वारा खेती सिखाई जाय और यूनानीके द्वारा प्राकृतिक इतिहास, भूगोल और औषधशास्त्र सिखाया जाय। यों तो भाषाओं तथा अन्य विषयोंके अध्ययनकी ऐसी विशाल योजना मिल्टनने बनाई है कि साधारण बालक तो दश जन्मोंमें भी नहीं सीख सकता पर उसका अर्थ यही निकालना चाहिए कि मिल्टन उस युगकी शिक्षाके घेरेको बड़ा कर देना चाहता था।

मिल्टनने भी मौण्टेनके समान यह सुझाव रक्खा है कि शिक्षाक्रमके अन्तिम कालमें इतिहास, कर्तव्यशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्य ऐसे व्यावहारिक सामाजिक विषय सिखा देने चाहिएँ जिनका मानवजीवनसे नित्यका सम्बन्ध हो। इसी ज्ञानको पुष्ट, सुसंबद्ध और व्यवस्थित करनेके लिये मिल्टनने स्वदेश-विदेशके भ्रमणोंका भी प्रस्ताव

किया है। इस नीतिपर शिक्षाकी प्रतिष्ठा करनेवाले मिल्टन-की शिक्षाका उद्देश्य भी स्पष्ट है। वह मनुष्यको शिक्षा देकर ऐसा साध देना चाहता था कि मनुष्य जिस वातावरणमें भी रहे उसमें ऐसा ठीक बैठ जाय कि न तो उसे ही असुविधा या कष्ट हो और न उसके कारण समाजको ही असुविधा हो। शिक्षा-का उद्देश्य बताते हुए वह कहता है—"मैं उसी शिक्षाको पूर्ण और उदार समझता हूँ जो मनुष्यको इस योग्य बना दे कि वह शान्ति तथा युद्धकालमें अपने व्यक्तिगत तथा समाजगत कर्त्तव्योंको न्याय, कुशलता और उदारताके साथ सम्पन्न कर सके।"

अपने शिक्षा-सिद्धान्तोंकी पूर्त्तिके लिये मिल्टनने एक 'एकेडेमी' (ज्ञानमन्दिर) नामक विद्यालयकी योजना प्रस्तुत की थी जो विशाल चौगानसे घिरे हुए भव्य भवनमें स्थापित हो और जिसमें डेढ़ सौ छात्र रक्खे जा सकें। सन् १६६२के ऐक्ट औफ़ यूनीफ़ौर्मिटी (साम्यधारा) के कारण अलग किए हुए दो सहस्र असाम्प्रदायिक पादरियोंने ऐसी संस्थाएँ प्रारंभ कर दीं और यद्यपि इसमें मिल्टनके मानवीय सानुभव-ज्ञानका ही बोलबाला था किन्तु वहाँसे विज्ञान, गणित और समाजशास्त्रके भी अच्छे विद्वान निकले। इसीके आधारपर अमेरिकामें माध्यमिक शिक्षाके लिये भी संस्थाएँ प्रारंभ हुईं।

मौण्टेन

दूसरी ओर सामाजिक वास्तविकतावादी मौण्टेनने भी

वास्तविकतापूर्ण मानवतावादको अधिक महत्त्व दिया। अपने "दिखावटी विद्वत्तापर" (औन पेडेन्ट्री) नामक ग्रन्थमें उसने तत्कालीन संकुचित मानवतावादी शिक्षापर गहरा व्यंग्य किया है और तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीकी आलोचना करते हुए कहा है कि उन विद्यालयोंमें अत्यन्त नियंत्रित, कृत्रिम और संकुचित मानवताकी शिक्षा दी जा रही है। लैटिन और यूनानी भाषाओंके शब्द और धातुरूप घोखना, न घोखनेपर अध्यापकके डंडे खाना, मार सहना, कोठरियोंमें बन्द किए जाना और पढ़ लिख लेनेपर अत्यन्त व्यवहार-शून्य शब्द-संचयमात्रसे युक्त ऐसा साधनहीन, प्रयोगहीन तथा अनुभवहीन नागरिक बन कर निकलना ही उस शिक्षाका फल था जिसकी रचनात्मिका शक्ति कुण्ठित हो गई हो और जिसे मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें शून्य ही शून्य दिखाई पड़ता हो।

इसीलिये मौण्टेनने यह व्यवस्था दी कि अध्यापकका कर्तव्य केवल यही नहीं कि वह पाठके शब्दोंमें ही विद्यार्थीकी परीक्षा ले, उसका यह भी कर्तव्य है कि वह पाठके अर्थ और भावका भी परीक्षण करे। उसे केवल यही नहीं देखना चाहिए कि विद्यार्थीने कितना रटा है प्रत्युत यह भी देखना चाहिए कि छात्रने समझा कितना है और कितना लाभ उठाया है। इस मानववादी शिक्षाके अन्य आचार्योंमें राबैले (१४६५-१५५३ ई०) और मलकास्टर (१५३०-१६११ ई०) के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी थे जो स्पष्ट

रूपसे सामाजिकतावादी ही थे जैसे 'दरबारी' (दि कोर्टियर १५२८) के लेखक कास्टिगलिओन, 'शासक' (दि गवर्नर १५३१) के लेखक ईलियट, 'पूर्ण सज्जन' (दि कम्प्लीट जैंटिलमैन १६२५ ई०) के लेखक पीचम और 'अंग्रेज़ सज्जन' (इंग्लिश जेण्टिलमैन १६३० ई०) के लेखक ब्राथवेट। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से विद्वान् हुए जिन्होंने और भी उदार तथा बहुमुखी शिक्षाके साथ साथ प्राकृतिक और सर्व-साधारण पद्धति-द्वारा शिक्षा देनेके सुझाव प्रस्तावित किए थे। यहाँतक कि मलकास्टरने तो सार्वभौम प्रारंभिक शिक्षा, अध्यापकोंकी शिक्षा, कन्याओंकी शिक्षा एवं शिक्षाके दार्शनिक तत्त्वके आधार स्वरूप बालकोंके मनका विश्लेषण करनेका भी सुझाव दिया था। वर्तमान शिक्षाके लिये इन सब प्रारंभिक वास्तविकतावादियोंने इतने सुझाव दिए थे कि इन्हें लोग नवप्रवर्त्तक कहने लगे थे। इन्होंने प्राचीन रूढ़िवाद और बंधनयुक्त मानवतावादको छिन्न-भिन्न कर डाला और वास्तविक जीवनसे संबंध रखनेवाली ऐसी शिक्षाका प्रचार किया जिसमें पाठ्य विषयोंकी बहुलता थी।

इसी समय जर्मन राज्योंमें सत्रहवीं शताब्दिमें इस सामाजिक वास्तविकतावादसे प्रभावित होकर एक प्रकारके नए विद्यालय खुले जिनमें सामन्तों और सरदारोंके बच्चोंको फ्रांसीसी, इतालवी, स्पेनी और अंग्रेज़ी भाषाओंके साथ साथ सदाचार, नृत्य, बर्छी चलाना, अश्वारोहण, दर्शनशास्त्र, सर्वगणित, भौतिक विज्ञान, भूगोल, गणनाशास्त्र, न्यायविधान,

मुख-सामुद्रिक-विज्ञान और दौत्यकर्मकी शिक्षा दी जाती थी और इन विद्यालयोंको रिट्टेर-आकाडेमियन या सामन्त-शिक्षालय कहते थे। इनमें जिमनेशियाके सब कार्योंके साथ साथ वर्त्तमान भाषाओं, विज्ञानों और सामन्तवादी कलाओंका भी समावेश था। इनमें विश्वविद्यालयोंका भी थोड़ासा पाठ्य-क्रम मिला लिया गया था।

—:****:—

स्वानुभव-वास्तविकतावादी और प्रारंभिक वैज्ञानिक आन्दोलन

सत्रहवीं शताब्दिमें चारों ओर वैज्ञानिक उन्नतिकी लहर उठ खड़ी हुई और शिक्षा-शास्त्रियोंने वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति तथा वस्तुओंकी वास्तविकता पहचाननेके लिये पाठ्यक्रममें विज्ञान भी जोड़ दिया। पादरियोंने इसका बड़ा विरोध किया क्योंकि विज्ञानमें बहुतसी बातें ऐसी थीं जो धार्मिक अन्धविश्वाससे टक्कर खाती थीं। पादरियोंको यह बात असह्य थी कि कोई वैज्ञानिक आकर यह कह दे कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूम रही है। इसी प्रकार शरीर-विज्ञान तथा ज्यौतिष-विज्ञानमें भी निरंतर उन्नति हो रही थी।

अभीतक जितनी कुछ वैज्ञानिक खोज हो रही थी वह सब प्रणाल्तर न्यायपर ही अवलम्बित थी। सर्वप्रथम फ्रांसिस बेकनने (१५६१-१६२६ ई०) ही वैज्ञानिक खोजके लिये एक व्यवस्थित पद्धति निकाली जिसका नाम उसने परिणाम प्रणाली (मैथड औफ़ इण्डक्शन) रक्खा। शिक्षाके क्षेत्रमें यही सर्वप्रथम वैज्ञानिक पद्धति मानी गई और इसलिये लोग बेकनको सबसे पहला स्वानुभव-वास्तविकवादी समझते हैं। उसने अरस्तूकी सिद्धान्त-पद्धति (डिडक्टिव मैथड) का विरोध किया जिसमें वैज्ञानिक लोग पहलेसे ही एक सिद्धान्त

मान लेते थे और फिर उसकी सिद्धिके लिये प्रमाण या उदाहरण खोजते थे। बेकनने यह प्रणाली बदल दी और यह पद्धति स्थापित की कि एकसा ही परिणाम दिखानेवाले अनेक उदाहरणों या प्रयोगोंको एकत्र करके उनके परिणामसे सिद्धान्तकी स्थापना की जाय। उसने अपने 'नोवम ऑर्गेनम' (नया साधन) नामके लेखमें इस प्रणालीकी इस प्रकार व्याख्या की है कि कोई भी व्यक्ति इस प्रणालीके प्रयोगसे समस्त बुद्धिगम्य विषयोंका व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु पीछे चलकर यह प्रणाली भी यंत्रवत् बँध गई। इस प्रणालीकी योजना यह थी कि पहले प्रत्येक व्यक्तिके मनसे सम्पूर्ण व्यक्तिगत धारणाएँ निकलवा दी जायँ, फिर प्रकृतिके सब सत्योंकी सूची बनाकर ध्यानपूर्वक उनका परीक्षण कराया जाय, तदन्तर सबकी तुलना करके समान तथा असमान परिणाम प्रकट करनेवाले पदार्थोंके आधारपर मूलभूत सिद्धान्त या नियम स्थिर कर दिए जायँ। यद्यपि स्वयं तो बेकनको शिक्षामें कोई रुचि थी नहीं किन्तु जर्मन राटिख् और मोरावी कमीनियस पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा।

राटिख्

राटिख् (१५७१–१६३५) मूलतः जर्मनवासी था। इङ्गलैण्डमें अध्ययन करते समय ही वह बेकनके स्वानुभव वास्तविकतावादसे परिचित हो गया था और उसी समय उसने निश्चय कर लिया था कि मैं इस सिद्धान्तके आधार

पर नवीन शिक्षा-पद्धतिकी अवश्य स्थापना करूँगा। वास्तविकतावादियोंके समान वह भी सर्वप्रथम देशी भाषा सिखानेके पक्षमें था जिससे अन्य भाषाओंके सीखनेके लिये संगत आधार मिल सके। उसका यह भी सिद्धान्त था कि एक समय एक ही वस्तु, इस प्रकार पढ़ाई जाय कि उसकी निरन्तर आवृत्ति होती रहे। उसका तात्पर्य यह था कि एक पुस्तक समाप्त होनेपर ही दूसरी पुस्तक प्रारंभ की जाय। जब वह क्वीथेनमें पढ़ाता था तब उसका क्रम यह था कि जैसे ही छात्र अक्षर पहचानने लगते थे कि उनको जर्मन सीखनेके लिये पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) से 'सृष्टिकी उत्पत्ति' भली भाँति पढ़ लेनी पड़ती थी। प्रत्येक अध्यायको अध्यापक पहले दो बार बाँचता था और छात्र अपनी उँगली फेरते हुए पुस्तकमें उस पाठको देखते चलते थे। जब विद्यार्थी भली प्रकार पुस्तकको पढ़ सकने योग्य हो जाते थे तब उन्हें उसीके आधारपर व्याकरण सिखाया जाता था। उसके पश्चात् अध्यापक उस पाठकी पदव्याख्या करके छात्रोंको उदाहरण ढूँढ़नेके लिये उत्साहित करता था और उनसे शब्दरूप तथा धातु-रूपकी आवृत्ति कराकर उनसे पदव्याख्या कराता था।

उसके शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त भी स्पष्टतः व्यावहारिक और वास्तविक थे। उसने शिक्षाके कुछ मूलमंत्र या गुर स्थिर किए थे। जैसे "प्रकृतिके अनुसार चलो", "प्रत्येक बात प्रयोग और परिणामके द्वारा सीखो, रटकर कुछ भी

कंठाग्र न करो।" इस प्रकार राटिखने केवल भाषा-शिक्षणकी ही सर्वश्रेष्ठ पद्धतिका रूप स्थिर नहीं किया अपितु वर्तमान शिक्षा-शास्त्रके मुख्य सिद्धान्तोंका भी पूर्व-दर्शन कर लिया। अनुभव-शून्यता तथा अन्य कई कारणोंसे वह अपनी योजनामें सफल न हो सका किन्तु उसके विचारोंने शिक्षाके क्षेत्रमें हलचल अवश्य मचा दी और उसके अनुयायी कमीनियसने इस जर्मन-शिक्षाशास्त्रीको पेंस्तालौजी, फ्रौबेल और हर्बार्टका आध्यात्मिक पूर्वज सिद्ध कर दिया।

कमिनियस

जौन ऐमौस कमीनियस (१५९२-१६७१ ई०) मोरावियाके निवनित्स नामक स्थानमें उत्पन्न हुआ था और मोरावियन चर्चका प्रधान अनुगामी था। लैटिन स्कूलमें शिक्षा पानेके पश्चात् वह हेरबोर्नके ल्यूथिरन कौलेज तथा हीडेलवर्ग विश्वविद्यालयमें दो वर्षतक शिक्षा पाता रहा। जीवनकी कुछ झंझटोंमें फँस जानेके कारण उसे इधर उधर घूमना पड़ा और ऐसे बहुत प्रकारके लोगोंसे उसका संबंध हुआ जो उस समय शिक्षाके सुधार और संगठनमें दत्तचित्त होकर लगे हुए थे। यद्यपि उन सबकी शिक्षा-समस्याएँ भी कमीनियस जैसी ही थीं और उनका प्रभाव भी कमीनियसपर भरपूर पड़ा किन्तु कमीनीयसने उन सबको परास्त कर दिया। उसके शिक्षा-संबंधी कार्य स्वानुभव-वास्तविकतावादसे ही प्रभावित थे। उसने तीन दिशाओंमें प्रमुख रूपसे अपनी

विशेषता प्रकट की। एक तो उसने लैटिन सीखनेके लिये पुस्तकमालाका निर्माण किया। दूसरे उसने 'महा शिक्षाशास्त्र' (दि ग्रेट डायडेक्टिक) रचा और तीसरा 'ज्ञानका सर्वतोमुखी संगठन करनेके उपाय' (पनसोफ़िया) लिखा।

सन् १६३१ में कमीनियसने "जानुआ लिंग्वारम् रेसेराता" (भाषाके द्वारका उद्घाटन) नामक लैटिन पुस्तकमाला प्रकाशित की जिसका उद्देश्य था लैटिनके अध्ययनके लिये मार्ग खोलना। इस पुस्तकमालामें क्रम यह था कि अत्यन्त परिचित वस्तुओं और विचारोंके लिये प्रयुक्त होनेवाले कई सहस्र लैटिन शब्दोंको वाक्योंमें क्रमबद्ध कर दिया गया था। पृष्ठके दाहनी ओर लैटिन छपी रहती थी और बाईं ओर देशी भाषामें उसका अर्थ छपा रहता था। इस प्रकार छात्रको साधारण विज्ञानका भी परिचय मिल जाता था और लैटिन शब्दोंके भाण्डारका भी अच्छा ज्ञान हो जाता था। इस ग्रंथमालाके लिखनेमें कमीनियसपर राटिखका भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा था। किन्तु वास्तवमें अपनी पद्धति तथा पुस्तकके नामकरणके संबंधमें वह ऋणी था यीशुई बेतियसका जो इसी प्रकारका एक और ग्रंथ पहले लिख चुका था। थोड़े ही दिनोंमें कमीनियसने अनुभव किया कि प्रारंभिक छात्रोंके लिये यह पुस्तकमाला कठिन होगी। तब उसने एक परिचय-पुस्तिका लिखी वेस्तीबुलेन (ज्ञानकी दालान) जिसमें अत्यन्त साधारण तथा अति परिचित कुछ सौ शब्द थे। इसके पश्चात् इन पुस्तकमालाओंमें अनेक संशोधन और

परिवर्द्धन हुए एवं इनकी अनेक आवृत्तियाँ हुईं। फिर इन्हींके सहायताके लिये व्याकरण, कोष और टिप्पणी भी लिखी गई। इसके पश्चात् उसने तीसरी लैटिन पुस्तक प्रकाशित की 'आल्ट्रीयम' (प्रवेश भवन) जो "जांनुआ" से एक सीढ़ी आगे ले जाती थी। कमीनियस उससे भी आगेकी एक पुस्तक लिखना चाहता था—सेपिएन्तिए पैलेतियम (ज्ञानप्रासाद) जिसमें लैटिन ग्रन्थकारोंके संकलन थे, किन्तु यह ग्रन्थ पूरा नहीं हो सका। फिर भी उसने "जानुआ" का एक अत्यन्त सरल, सुबोध तथा सचित्र संस्करण प्रकाशित किया जिसमें चित्रकी प्रत्येक वस्तुपर पाठमें आनेवाले शब्दकी सख्या दी रहती थी। जैसे यदि पाठमें क्रमशः १ फूल, २ वृक्ष, ३ डाली, ४ पत्ते शब्द आते थे तो उस पाठके साथ दिए हुए फूलके पौधेके चित्रमें फूल, वृक्ष, डाली, पत्ते पर १, २, ३, ४ संख्या दी हुई होती थी जिससे छात्र शब्द और वस्तुका संबंध समझ सके। इस पुस्तकका नाम था 'ओर्बिस सेन्सुअलिअम पिक्टस (अनुभवगम्य पदार्थोंकी सचित्र सृष्टि)। यही पुस्तक सबसे पहली सचित्र पाठ्यपुस्तक समझी जाती है।

इस पुस्तकके अतिरिक्त कमीनियसके मस्तिष्कमें शिक्षाके उद्देश्यका भी एक निश्चित रूप था जिसे वह व्यवस्थित करना चाहता था और जिसकी विषय-सामग्री तथा शिक्षण-पद्धतिका रूप भी वह सुस्थिर करना चाहता था। शिक्षाके संबंधमें उसने अपना पूरा मत "महाशिक्षाशास्त्र" (दि ग्रेट

डायडेक्टिक) में प्रतिपादित किया है जो सन् १६५७ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। इसमें उसने वास्तविकतावादी आन्दोलनके सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंका समावेश कर लिया था और राटिख, वेतिअस तथा अन्य शिक्षा-शास्त्रियोंके सिद्धान्तों और शिक्षण-विधानोंका ठीक रूप भी समुन्नत कर दिया था। इसके साथ उसने बेकौनके ऐडवान्समेंट औफ़ लर्निंग (विद्याकी समुन्नति) तथा अपने गुरु आल्स्टेडके विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया) की भी सहायता ली थी। उसने ज्ञान, सदाचार और पवित्रताको ही शिक्षाका आदर्श माना था और बालक-बालिका, अच्छे-बुरे, धनी-निर्धन सबके लिये सार्वभौम शिक्षाका समर्थन किया था। उसकी शिक्षण अवधिमें छः-छः वर्षकी चार अवस्थाएँ सम्मिलित थीं। पहली शिशु शिक्षाकी अवधि जन्मसे लेकर छः वर्षतक थी जो माताकी गोदमें ही दी जानी चाहिए। इसके पश्चात् छः वर्षसे बारह वर्षकी अवस्था तक बालकोंको देशीभाषाकी उन पाठशालाओंमें बालशिक्षा दी जाय जो ग्राम-ग्राममें खोली गई हों। बीससे अट्ठारह वर्षतक नगरोंके लैटिन विद्यालयोंमें किशोर-शिक्षा दी जाय और फिर प्रत्येक प्रान्त या राज्यके विश्वविद्यालयमें अट्ठारहसे चौबीस वर्षतक युवक-शिक्षा दी जाय और ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि इस प्रकारकी शिक्षा सुलभतापूर्वक सबको प्राप्त हो।

इनके अतिरिक्त कमीनियसने जो ग्रन्थ लिखे हैं वे इसी "महाशिक्षाशास्त्र" के विस्तृत रूप समझने चाहिएँ। उसने

पैनसोफ़िया या सार्वभौम ज्ञानके नामसे जो वास्तविक शिक्षाकी योजना बनाई थी वही उसका मूल ध्येय था। उसका विश्वास था कि सर्वतोमुखी शिक्षा चारों प्रकारके विद्यालयोंमें अर्थात् मातृ-विद्यालय, ग्रामके देशीभाषा विद्यालय, नगरोंके लैटिन विद्यालय और राज्यके विश्वविद्यालय सभीमें दी जाय और आगेके प्रत्येक विद्यालयमें ज्ञानकी परिधिका उत्तरोत्तर विकास होता चले। अर्थात् शिशुशिक्षाकालमें ही भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, भाषणकला, संगीत, शास्त्रार्थकला, गणित, ज्यामिति, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, राजनीति, तत्त्वज्ञान और धर्म सबका थोड़ा-थोड़ा साधारण परिचयात्मक ज्ञान करा देना चाहिए और आगेकी श्रेणियोंमें क्रमशः उस ज्ञानका निरन्तर विस्तार होता चले, नए विषय कोई न सिखाए जायँ। यही प्रणाली आगे चलकर "कन्सेण्ट्रिक मैथड" या 'परिधि-विस्तार-पद्धति' के नामसे प्रसिद्ध हुई। इन शिक्षा-विद्यालयोंके अतिरिक्त कमीनियसकी इच्छा थी कि संसारमें कहीं एक ऐसा शिक्षण-शास्त्रका विद्यालय खोला जाय जिसमें सब देशों और जातियोंके वैज्ञानिक एक साथ मिलकर वैज्ञानिक शोध करते।

शिक्षण-पद्धतिके संबंधमें उसका सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण ज्ञान स्वाभाविक पद्धतिसे ही दिया जाय। यद्यपि इसमें बहुत सी बातें सनकसे भरी थीं किन्तु फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं था। कमीनियस ही वह व्यक्ति था जिसने परिणाम-प्रणाली या इण्डक्टिव मैथडका शिक्षामें सर्वप्रथम प्रयोग किया

था। पढ़ना, लिखना, संगीत, विज्ञान, भाषा, सदाचार और धर्मकी शिक्षाके लिये उसने बेकनकी परीणाम-प्रणालीका प्रयोग किया। उसका कहना है कि विज्ञान सिखाते समय यदि वास्तविक वस्तुएँ न मिल सकें तो उनकी प्रतिकृति तथा चित्र आदि बनाकर दिखाए जायँ अर्थात् विद्यार्थीको प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष या स्वानुभवज्ञान ही मिलना चाहिए। इस प्रकार कमीनियसने स्वानुभव वास्तविकतावादका आधार लेकर उसमें अनेक सुधार किए और बहुतसे नये तत्त्व भी जोड़े। इसीलिये उसे सत्रहवीं शताब्दिके शिक्षाशास्त्रियोंमें सबसे बड़ा सिद्धान्ताचार्य और व्यावहारिक सुधारक कहा जा सकता है क्योंकि उसकी शिक्षाभावना केवल फ्रांके, रूसो, बेसडो, पैस्तालोजी, हर्बार्ट तथा फ्रोबेल आदि पीछेके शिक्षाचार्योंके विचारोंमें ही प्रस्फुरित नहीं हुई वरन् आगे आनेवाली शिक्षण संस्थाओंके पाठ्यक्रम और उनकी शिक्षण-पद्धतियोंमें भी अभिव्यक्त हुई। एक बार फिर विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें विज्ञानका बोलबाला हो गया।

लौक

शिक्षा-शास्त्रियोंमें जौन लौक (१६३२–१७०४ ई०) ही ऐसा भाग्यवान पुरुष है जिसे लोग वास्तविकतावादी, स्वानुभव-वास्तविकतावादी या प्रकृतिवादी कहते हैं। अपने "शिक्षा-संबंधी विचार" नामक ग्रन्थमें जो प्रवृत्ति उसने प्रकट की है उससे उसकी गणना पुराने खेवेके वास्तविकतावादियोंमें

की जा सकती है। साथ ही उसमें कुछ ऐसे भी तत्त्व प्राप्त होते हैं जिनसे उसे स्वानुभव वास्तविकतावादियोंकी श्रेणीमें भी रक्खा जा सकता है। उसके बहुतसे विचार तो रूसोसे इतने मिलते-जुलते हैं कि वह प्रकृतिवाद तकका समर्थक कहा गया है। किन्तु लौकने तो वास्तवमें सज्जनकी शिक्षाके लिये व्यावहारिक सुझाव दिए हैं जो उसने अपने एक मित्रके पुत्रकी शिक्षाके संबंधमें लिख भेजे थे। यदि लौक-द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षाके तत्त्वोंका एक शब्दमें समास करें तो वह शब्द है—'विनय या आत्म-संयम'। यहाँ विनयका अर्थ न तो दीन प्रार्थना है न नम्रता ही। विनयका अर्थ है भली प्रकार विशिष्ट नियमके अनुसार अपने आचरणको संयत रखना। यह शब्द अंग्रेजीके "डिसिप्लिन" शब्दका पर्यायवाची है। लौकके विचारसे सम्पूर्ण ज्ञान-लाभके अनुभवसे ही होता है। उसका कहना है कि मस्तिष्क कोरे कागज या मोम-पट्टीके समान है जिसपर हमारी इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य संसारकी छाप पड़ती चलती है। अतः मनको विवेकशील बनानेके लिये अभ्यास तथा विनयकी बड़ी आवश्यकता है और मनके संयमके लिये सर्वगणित तथा विज्ञानकी शिक्षा आवश्यक है।

नैतिक शिक्षाके लिये भी लौकका यह आदर्श है कि मनुष्यको अपनी इच्छाओंका तिरस्कार करके अपनी रुचिकी उपेक्षा करके, मनकी वृत्तियोंका दमन करके उचित

विवेक तथा तर्कके अनुसार सु-मार्ग ग्रहण करना चाहिए। यह शक्ति नित्य व्यवहार और बचपनसे अभ्यास करनेसे प्राप्त हो सकती है। इससे भी अधिक निश्चित विनयपूर्ण है उसका प्रसिद्ध कठोरीकरणका प्रयोग जिसकी व्यवस्था उसने शारीरिक शिक्षाके लिये की है। उसका कहना है कि बच्चोंके संबंधमें पहली ध्यान देनेकी बात यह है कि उन्हें जाड़े-गर्मीमें बहुत पहना-उढ़ा कर नहीं रखना चाहिए। जब हम उत्पन्न होते हैं तब हमारा मुख भी शरीरके अन्य अंगोंके समान ही कोमल होता है किन्तु सदा खुला रहनेसे उसे ऋतु-परिवर्तन सहनेका अभ्यास हो जाता है। इसी प्रकार शरीरके अन्य अंगोंको भी साधना चाहिए। बच्चोंके पैर नित्य ठंडे पानी-से धुलाने चाहिएँ। उनके जूतोंके तल्ले इतने पतले हों कि यदि वे पानीमें चलें तो जूतोंमें पानी भर सके। उन्हें बिना टोपी उढ़ाए धूप और वायुमें खेलनेको छोड़ देना चाहिए। उनकी खाटें भी कड़ी लकड़ीकी होनी चाहिए। लौकके इस कठोर विनयके सिद्धान्तके कारण शिक्षा-शास्त्री लोग उसे नियमित विनय (फ़ॉर्मल डिसिप्लिन) के शिक्षा-सिद्धान्त-का सर्व प्रथम महान् प्रवर्तक मानते हैं। लौकके इस सिद्धान्तका यह प्रभाव पड़ा कि उसके अनुयायियोंने यह नियम कर दिया कि चाहे बालककी रुचि, योग्यता और आकांक्षा हो या न हो किन्तु उसे लैटिन, यूनानी और गणित अवश्य पढ़ाना ही चाहिए क्योंकि गणितसे तर्क-बुद्धि बढ़ती है और भाषाओंसे स्मृति-शक्ति बढ़ती है। यह सिद्धान्त

इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वैज्ञानिकोंने भी इस "नियमित विनय" के सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया और प्रायः सभी प्रकारके विद्यालयोंमें इस "नियमित विनय" का प्रचार बढ़ने लगा।

बीसवीं शताब्दिके प्रारंभमें मनोवैज्ञानिकों तथा बुद्धिवादी शिक्षकोंने इस नियमित विनयका बड़ा विरोध किया। अब यह प्रायः सार्वभौम दृष्टिसे विश्वास किया जाने लगा कि विभिन्न प्रकारके अध्ययनोंसे व्यापक ज्ञान-शक्तिके बदले एक विशिष्ट ज्ञान-शक्तिका लाभ होता है और यदि किसी विद्यार्थीकी रुचि सांस्कृतिक साहित्य या सर्वगणित-के अध्ययनमें नहीं होती तो वह शिक्षा या संस्कारके लिये अयोग्य नहीं समझा जाता। इसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान प्राप्त करनेसे अधिक पाठ्य-विषयोंको महत्त्व दिया जाने लगा। अनेक प्रकारके पाठ्य-विषय बढ़ा दिए गए और विषयोंके चयन-स्वातंत्र्यका सिद्धान्त मूलतः स्वीकार कर लिया गया। लौकने भी अपने लेखोंमें यह स्पष्ट कह दिया था कि लैटिनके पन्ने घोखनेका केवल यही लक्ष्य नहीं है कि वह स्मरण रक्खा जा सके वरन् उसका उद्देश्य यह है कि उसका आधार लेकर अन्य प्रकारके ज्ञानकी प्राप्ति भी की जा सके। इसी प्रकार गणित-द्वारा जो तर्क-शक्ति बढ़ती है उसका प्रयोग अन्य प्रकारकी ज्ञान-प्राप्तिमें भी किया जा सकता है। इस प्रकार केवल नियमित विनयका पक्षपाती होते हुए भी लौक वर्तमान शिक्षा-सिद्धान्तोंसे असहमत नहीं था।

भाले मस्तिष्कमें रसिकतापूर्ण और रोचक साहित्य कूट-कूटकर भर दिया गया। ६ वर्षकी अवस्थामें ही उसने अपने पिताकी उपन्याससे भरी आलमारी पढ़कर समाप्त कर दी। फिर वह अपने दादाके पुस्तक-संग्रहकी ओर आकृष्ट हुआ। इन पुस्तकोंमें उसे प्लुतार्कद्वारा लिखित जीवन-चरित और ईसाई-धर्म तथा साम्राज्यके इतिहासका ज्ञान प्राप्त हुआ। रूसोके चरित्रपर इस साहित्यका अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा। उसका कोमल हृदय वीरताके भावसे ओत-प्रोत हो गया।

सन् १७२० में रूसोके पिताको कुछ कारणवश जिनेवा छोड़ देना पड़ा और उन्होंने रूसोको उसके मामाके पास छोड़ दिया। उसके मामाने उसे अपने पुत्रके साथ जिनेवाके बाहर बोसी नामके गाँवमें दो वर्षतक रख छोड़ा। यहाँपर इन दोनों भाइयोंकी घनिष्ठता और मित्रता बहुत बढ़ गई। लैटिन घोखनेकी अपेक्षा उनका ध्यान बोसीके प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर अधिक आकृष्ट हुआ और वे अपना अधिक समय इसीका आनन्द लेनेमें व्यतीत करने लगे। परिणाम यह हुआ कि दिन प्रतिदिन रूसोका प्रेम प्रकृतिसे बढ़ता ही चला गया।

कुछ समयके पश्चात् उसके इस आनन्दमय जीवनमें सबसे पहला कटु अनुभव हुआ। एक बार उसपर दुष्टता करनेका झूठा आरोप लगाया गया और उसे दंड भी दिया गया। उसका बालक हृदय उस कठोर दंडसे तिलमिला उठा।

इस घटनासे उसके संपूर्ण आनन्द और उत्साहपर पानी फिर गया और उसके ग्राम्य जीवनका आनन्द ही विषाक्त हो गया। रूसो जैसा मनस्वी और भावुक बालक जो सामाजिक बन्धनों और दंडोंसे तनिक भी परिचित न हो, इस घटनासे इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह परिणाम निकाला कि मनुष्यकी गतिमें नियम-बद्धता, बाह्याडम्बर, उपदेश और दण्डके द्वारा जब उसे प्रकृतिसे दूर रक्खा जाता है तभी उसके स्वाभाविक पवित्र मनमें विकार उत्पन्न होता है और उसकी सरलता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। यही परिणाम आगे चलकर उसके जीवनका ही नहीं वरन् उसके राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्तोंका भी मुख्य आधार बन गया जो उसने अपने 'एमील' नामक पुस्तकमें वहाँ स्पष्ट कर दिया है जहाँ वह कहता है—"प्रत्येक वस्तु प्रकृतिके हाथमें सुन्दर स्वच्छ और पवित्र रहती है, किन्तु मनुष्यके हाथमें आते ही उसमें विकार आने लगता है।"

बोसी छोड़नेके पश्चात् दोनो भाई एक साथ ही जिनेवामें जाकर रहने लगे, जहाँ उनका जीवन बड़े ही अनियमित रूपसे बीता। वहाँ न तो वे किसी बच्चेसे ही मिल पाते थे, न किसी विद्यालयमें ही पढ़ने जाते थे। घरपर बैठे-बैठे दोनों पतंग बाँधते, पिंजड़े बनाते, ढोल मढ़ते, मकान उठाते, घड़ी सुधारते और खिलौने गढ़ते थे। इस प्रकार अनिर्दिष्ट आमोद-प्रमोदमें ही ये निरन्तर छुट्टियोंका आनन्द ले रहे थे। रूसो कभी-कभी अपने पिताके पास चला जाया करता था जहाँ

सब लोग विशेषतः महिलाएँ उसका बड़ा आदर करती थीं। इसका कारण था उसका सुन्दर रूप। अनियमित और कर्त्तव्यहीन जीवन होनेसे बारह वर्षकी अवस्थामें ही उसके मनमें काम-भावना उद्दीप्त हो गई और वह बिगड़ चला।

रूसो चार वर्षतक एक शिल्पीके पास काम सीखता रहा, जहाँ वह बहुत बुरी संगतिमें पड़ गया। झूठ बोलना, चोरी करना आदि सब कुकर्म उसने धीरे-धीरे सीख लिए। रूसोका स्वामी भी बड़ा कठोर था। उसकी कठोरतासे रूसो इतना ऊब गया कि उसने वहाँ काम करनेकी अपेक्षा निरर्थक घूमकर किसी भी प्रकारसे जीविका उपार्जन करना अच्छा समझा। उसने काम छोड़ दिया और तीन वर्षतक सेवौय प्रान्तमें इधर-उधर घूमता रहा। इस बीच बहुतसे स्थानोंके दृश्य-सौन्दर्य तथा चमत्कारोंका उसके मनपर अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा। इस घुमक्कड़ी जीवनमें वह बहुतसे ऐसे लोगोंके सम्पर्कमें भी आया जिनकी शिक्षासे वह जीवनके बहुतसे तत्त्व सीख सका। दुखी-पीड़ितोंसे सहानुभूति करना भी रूसोने इसी समय सीखा था। लोगोंकी कठिनाइयों और दुःखोंसे उसने यह जान लिया कि बाहरी बनावट-सजावट और टीम-टाम केवल आडम्बर ही नहीं वरन् मनुष्यकी वास्तविकताको कृत्रिम रूपसे ढक देता है। ग्रामीणोंके सरल देहाती जीवनमें जो निर्मलता, पवित्रता, नम्रता और सच्चाई पाई जाती है वह सभ्य, शिक्षित नागरिक कहलानेवाले व्यक्तियोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं पाई जा सकती।

जीवनके इस अनुभवने रूसोको अपने सिद्धान्तपर और भी अधिक दृढ़ कर दिया कि मनुष्य प्रारम्भमें, प्रकृतिके हाथमें ही शुद्ध और पवित्र रहता है। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें मैदम् दि वारेन् नामकी एक सामान्या दुश्चरित्रा स्त्रीके साथ वह सेवौयमें रहने लगा। इसी समय उसने संगीत, दर्शन तथा अन्य विज्ञानोंका ज्ञान भी उपार्जन किया किन्तु थोड़े ही दिनों पीछे रूसो और मैदम् दि वारेन् दोनों ही एक दूसरेसे ऊब गए और रूसो सन् १७२४ में पैरिस चला गया। पैरिसमें जाकर भी वह एक लड़कीके चंगुलमें फंस गया और वहाँ उसने उस मूर्ख भद्दी, नौकरानी थीरे लेवासे नामकी लड़कीके साथ जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। अब अपने दोनोंकी जीविकाका प्रश्न उसके सामने आया और वह अपने उत्तरदायित्वका अनुभव भी करने लगा।

सन् १.४१ में वह वेनिसमें फ्रांसीसी राजदूतका मंत्री बन गया किन्तु साढ़े सात वर्षके पश्चात् रूसोने संगीत सिखानेका काम आरम्भ किया। संगीत सिखानेके अतिरिक्त वह गीत भी लिखता था और गाने भी बनाता था, जिसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे साहित्यकारों और कलाविदोंमें उसका नाम होने लगा।

रूसोका साहित्यिक जीवन

सन् १७५० से १७६५ तक रूसोने कई लेख प्रकाशित किए जिससे साहित्यिक समाजमें उसका बड़ा आदर बढ़ा।

उसका सर्वप्रथम लेख प्रकाशित हुआ "विज्ञान और कलाओंकी उन्नतिने लोकचरित्रको बिगाड़नेमें योग दिया है या सुधारनेमें ?" इस लेखमें उसने लिखा था कि समाजका वर्त्तमान उत्पीड़न और उसकी बुराईका कारण सभ्यताकी अभिवृद्धि ही है।

इस लेखकी शैलीपर उसे पुरस्कार मिला। सन् १७५५ में उसने "दिन्यू हैलौय" नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। इस उपन्यासमें उसने प्राकृतिक जीवनकी सुन्दरता तथा सीधे सादे गार्हस्थ्य जीवनके आदर्शोंका चित्रण किया। 'मनुष्योंमें असमानताका प्रादुर्भाव' शीर्षक लेखमें उसने सिद्ध किया कि प्रारम्भिक मानव समाजमें शरीर और मस्तिष्ककी असमानता उतनी नहीं थी जितनी सभ्यताके विकासमें दिखाई पड़ने लगी है और ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत सम्पत्तिकी भावना बढ़ने लगी त्यों-त्यों असमानता भी बढ़ने लगी। रूसोका कथन है कि व्यक्तिगत धनकी वृद्धिके साथ ही चोरी डकैती आदि बढ़ने लगी और धनीके रक्षाके लिये ही दंड-विधान, रक्षा-विधान और सभ्यता आदिका निर्माण हुआ था। नियमसे चलाए हुए समाजने सदा दीनोंकी उपेक्षा करके धनियोंकी शक्ति ही बढ़ाई।

सन् १७६२ में रूसोका प्रसिद्ध उपन्यास 'एमील' या 'एमिली' और 'सामाजिक बन्धन' निकला। 'सामाजिक बन्धन' साम्राज्यवादका विरोधी था। धार्मिक अधिकारी उससे इतने चिढ़ गए कि पैरी (पेरिस) और जिनेवामें जहाँ

कहीं वह पोथी पादरियोंके हाथ पड़ी तुरन्त जला दी गई। यहाँ तक कि रूसोको भी वहाँसे अपने प्राण लेकर भागना पड़ा। 'एमील' नामक उपन्यासमें उसने एमील नामक बालकके द्वारा अपने संपूर्ण आदर्श स्पष्ट कर दिए हैं।

रूसोने अपने प्रथम लेखमें ही कहा है कि कला और विज्ञानकी उन्नतिने मनुष्यके आचार और नीतिको बड़ी क्षति पहुचाई है। इसी प्रकार दूसरे लेखमें उसके निर्भीकतासे कहा है कि परस्पर असमानता और भेद उत्पन्न करनेका सारा दोष उस समाजपर है जो धन संग्रह करता है। संसारमें प्रत्येक बालक समान बल और बुद्धि लेकर आता है किन्तु समाज उसकी बुद्धिमें भेद-भावना डाल देता है। अपने 'हैलौय' शीर्षक लेखमें उसने जनतामें देशप्रेमका आवेश भरा और इसके पश्चात् 'सामाजिक बन्धन' लिखकर लोकतन्त्र-शासनका महत्त्व प्रकट किया। उसका कहना है कि राजा-प्रजाका संबंध आत्मीयताका होना चाहिए। यदि राजा अपनी जनताके सुख-दुखका ध्यान नहीं रखता तो जनताको भी उसे अपना स्वामी न माननेका पूर्ण अधिकार है। उसने जनतामें यह पुकार की कि मनुष्य आता तो है स्वतन्त्र किन्तु सर्वत्र वह दिखाई देता है बँधा हुआ। इस लेखमें मनुष्यके नैसर्गिक अधिकारकी घोषणा भी की गई है। रूसोकी इस पुकारने फ्रांस और अमेरिकामें क्रान्ति मचा दी।

किन्तु रूसो केवल क्रान्तिकारी ही नहीं था। वह शिक्षा-विधानमें भी सुधार करना चाहता था। वह 'एमील' में

प्रकट किए हुए सिद्धान्तोंके अनुसार ही तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीमें सुधार करना चाहता था। उसका कथन है कि बच्चेके मन, मस्तिष्क और शरीरको स्वतन्त्रतापूर्वक समुन्नत होनेका अवसर देनेके लिये उसे कृत्रिमतासे हटाकर स्वाभाविकतापर छोड़ना चाहिए और स्वाभाविक रूपसे ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। यही रूसोका प्रकृतिवाद है। रूसोका शुद्ध विश्वास है कि बालकको प्रकृतिसे जो कुछ शिक्षा प्राप्त हो सके, उसीपर छोड़ दिया जाय जिससे उसके निर्मल मस्तिष्क, मन और शरीरके विकासमें पूर्ण स्वतन्त्रता रहे और समाजके विचारोंकी छाया उसके निर्मल मनपर न पड़ पावे। उसकी घोषणा थी 'प्रकृतिकी ओर लौट चलो।'

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्त

रूसोके पूर्ववर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंका विचार था कि शिक्षाके द्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक या मूल दुष्प्रवृत्तियोंका सुधार होता है क्योंकि बुराईको अच्छाईमें बदल देना ही शिक्षकका प्रधान काम है। इसी विचारको भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट किया है। यही कारण था कि तत्कालीन शिक्षकोंने मनुष्यके आन्तरिक भावोंको विकासका अवसर न देकर उन्हें बाह्य ज्ञान-भंडारसे ही दबा रक्खा था। इन लोगोंने बच्चोंको युवकसे भिन्न न समझकर उसे युवकका ही प्रारम्भिक प्रतिरूप समझ लिया था और इसीलिये वे बच्चोंको स्वतः अपने विचारोंसे लादते चलते थे। इस

प्रणालीका दुष्परिणाम यह हुआ कि बच्चोंके व्यक्तिगत भावोंका विकास नहीं होने पाता था और सभी एक ही साँचेमें ढाल दिए जाते थे।

रूसो प्रकृतिवादी तथा स्वाभाविकतावादी था। वह तत्कालीन आडम्बरपूर्ण तथा बनावटी शिक्षा-प्रणालीका घोर विरोधी था। उसकी 'एमील' नामक पुस्तक पढ़नेसे ही उसके शिक्षा-संबंधी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

रूसोके अनुसार प्रत्येक मनुष्य, जन्मके समय निर्मल होता है और उस समय उसमें किसी प्रकारकी दुष्प्रवृत्ति या विकृति नहीं रहती। अतएव बच्चेकी प्रकृति, उसका मन, उसकी इच्छाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ सभी उच्च कोटिकी होती हैं और उनके संबंध तथा विकासमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़नी चाहिए और यथासंभव उसके विकासमें पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब बालकोंको समाजसे दूर कर दिया जाय। उसे इस बातका बड़ा दुःख है कि मनुष्य अपनी प्रभुतासे बालककी कोमल भावनाओंपर प्रभाव डालकर उन्हें नष्ट कर देता है।

उसका कहना है कि शिक्षक तथा समाजकी आवश्यकताओं और भावोंके अनुसार बालकको शिक्षा नहीं देनी चाहिए वरन् बालककी आवश्यकता और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको ही उसकी शिक्षाका पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। ऐसा करनेसे प्रत्येक बच्चा अपनी योग्यता, अपनी आवश्यकता तथा समयके अनुसार अपने आप सरलतासे अपने आपको

शिक्षित करता चलता है। शिक्षकके लिये यह अधिक उचित होगा कि वह शिक्षा देनेसे पूर्व बच्चेकी योग्यता, उसकी आवश्यकता, बुद्धि तथा रुचिको भली प्रकार समझ ले। शिक्षा-विधि तथा पाठ्य-विषय दोनोंसे अधिक बालकको महत्त्वपूर्ण समझे अर्थात् बालककी प्रकृतिके अनुसार ही उसे शिक्षा दे। अपने 'प्रकृतिका अनुसरण करो' के सिद्धान्तके अनुसार वह चाहता था कि प्रत्येक क्षेत्रमें बालकका विकास स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिए, उसमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि बाह्य शिक्षाके प्रभावसे शरीरकी भी वृद्धि ठीक-ठीक नहीं हो पाती। बालकके बौद्धिक विकासके लिये शिक्षकको उसकी बौद्धिक परिधि तथा स्वाभाविक कुतूहल-भावनाका सहारा लेना चाहिए। बालकको ऐसा अवसर देना चाहिए कि वह स्वयं सोच-विचारकर अपने अनुभवका परिणाम निकाले। कोई बात बतानेकी अपेक्षा उसमें ऐसी उत्सुकता जगाई जाय कि वह स्वयं उसे ढूँढ निकाले क्योंकि इससे उसके मस्तिष्कका विकास भी भली प्रकार होगा। यही सिद्धान्त आगे चलकर स्वयंशोध (ह्यूरिस्टिक) प्रणालीका जनक सिद्ध हुआ।

नैतिक पक्ष

बालककी चालढाल तथा उसके आचार-व्यवहारमें कभी शिक्षा तथा उपदेशसे इतना सुधार नहीं हो सकता जितना वह स्वयं अपने अनुभवसे सीख सकता है इसलिये उसे

स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। वह अपने कुकर्मोंके कटु अनुभवसे अपने दोष अधिक स्वाभाविक रूपसे देख सकता है। यदि बालक एक बार आगमें हाथ डालकर अपना हाथ जला लेगा तो वह दुबारा आगमें हाथ नहीं डालेगा।

इसके अतिरिक्त बच्चेका मस्तिष्क कोरी पाटी नहीं है कि शिक्षक जो चाहे उसपर लिख दे। उसके मस्तिष्कमें उसका अपना व्यक्तिगत भी कुछ ज्ञान रहता है। अतएव यदि शिक्षकको उसीपर लिखना होगा तो उसे मिटाकर ही लिखना पड़ेगा। मिटाकर लिखनेके दुहरे कार्यसे अच्छा तो यही है कि बालककी रुचि, बुद्धि, योग्यता तथा सामर्थ्यके अनुसार ही उसे शिक्षा दी जाय। इसका यह अर्थ हुआ कि बालकके ही अनुरूप शिक्षा-विधि बनाई जाय न कि बालकको शिक्षा विधिके अनुरूप बनाया जाय।

रूसोकी स्वतःप्रवृत्त-शिक्षा

रूसोके अनुसार बारह वर्षतकके बालकको प्रकृतिके हाथमें इस प्रकार स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए कि उसके घूमने-फिरने, कूदने-फाँदनेमें न तो किसी प्रकारकी बाधा पड़े न किसी प्रकारका हस्तक्षेप ही किया जाय। वह जैसे चाहे वैसे उठे-बैठे, खाए-पीए, खेलेकूदे, उसकी स्वाभाविक गतिपर कोई नियंत्रण न हो। इस प्रकारके स्वाभाविक और स्वतंत्र विचरणसे बालककी ज्ञानेन्द्रियोंका विशेष संवर्धन और विकास होता है। यही नहीं, इस स्वतःप्रवृत्त-विचरण द्वारा

वह ऐसा नया ज्ञान अर्जित करता चलता है जो नियमित शिक्षा-द्वारा उस परिमाणतक नहीं दिया जा सकता। बालकको फूलोंके विषयमें जो ज्ञान अपनी फुलवारीमें खेलते-खेलते प्राप्त हो जाता है उतनी मात्रामें शिक्षक उसके मस्तिष्कमें कभी नहीं भर सकता और इसमें सन्देह नहीं कि अपने अनुभवसे अर्जित ज्ञान अधिक स्थायी और उपयोगी होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि बारह वर्षतक उसे बलवत् शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त रूसोके अनुसार बालकमें सोचने-विचारनेकी इतनी शक्ति नहीं होती कि उसे नैतिक या धार्मिक उपदेश दिए जायँ। उसके चरित्रका विकास उसके अपने अनुभवों-द्वारा ही होता है। अतएव उसे स्वाभाविक गतिपर छोड़ दिया जाय जिससे उसके भाव, उसकी रुचि और इच्छाओंकी स्वतः वृद्धिमें पूरी स्वतंत्रता मिलती रहे क्योंकि उसके भाव और उसके मनके रूप प्रारम्भमें निर्मलऔर उच्च कोटिके होते हैं। समाजके प्रभावसे ही उसमें विकार आने लगते हैं। अतएव उसकी स्वाभाविक वृद्धिमें समाजकी छायातक नहीं पड़ने देनी चाहिए।

रूसो यह भी कहता था कि अधिक उपदेश देने और बालककी बुद्धिपर अधिक भार डालकर बौद्धिक शिक्षा देनेसे उसकी शारीरिक वृद्धि ठीक रूपसे नहीं हो पाती। बच्चेकी कोमल देहपर ज्ञानका इतना भार लाद दिया जाता है कि उस भारके कारण उसका शरीर खुल ही नहीं पाता। शारीरिक

वृद्धि भी बालकके लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी बौद्धिक या मानसिक वृद्धि। शिक्षा और मस्तिष्ककी वृद्धि स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर है। जिसप्रकार लकड़ीमें हाथ लगानेके पहले बढ़ई अपने यंत्रोंको ठीक देखभालकर उनका परीक्षण कर लेता है, उसी प्रकार शिक्षकको भी शिक्षा देनेसे पहले बालककी शारीरिक क्षमताकी जाँच भी कर लेनी चाहिए। वह समर्थता या क्षमताही शिक्षकके यंत्र हैं। अतएव बालकके शरीरका स्वस्थ होना अधिक आवश्यक है क्योंकि बालककी सम्पूर्ण समर्थताओंका केन्द्र शरीर ही तो है।

रूसोका यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जँचता कि बालकको स्वाभाविक विचरणके लिए छोड़ दिया जाय, उसकी क्रियाओंपर किसी प्रकारका नियंत्रण न हो और उसे किसी प्रकारका उपदेश न दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने स्वतः अनुभवोंसे ज्ञान अर्जित कर सकताहै किन्तु उसके कार्यों और अनुभवोंके साथ साथ उसे उचित उपदेश, आदेश तथा निर्देशकी भी आवश्यकता है। यदि उचित रूपसे निरीक्षण न होगा तो बालककी योग्यता किसी बुरी धाराकी ओर प्रवृत्त होकर भी बह सकती है। बालक अधिकतर अनुकरणसे सीखता है। वह बोलता है क्योंकि वह अपने आस-पासके लोगोंको बोलते हुए सुनता है। जो बच्चे जंगलमें पलते हैं उनके आचार-व्यवहार सब जंगली हो जाते हैं। यहाँतक कि वे मनुष्यकी बोली भी नहीं बोल पाते। जन-संपर्कसे दूर एकान्तमें रहनेपर उनकी शक्तियाँ उन्नत

और समृद्ध नहीं हो पातीं इसलिये बच्चेकी उन्नतिके लिये अनिवार्य रूपसे निर्देशककी आवश्यकता है। सत्य तो यह कि इस संबंधमें रूसो अपने विचारोंको स्पष्ट रूप नहीं दे पाया।

एमील

एमीलकी रचना रूसोने इस उद्देश्यसे की है कि तत्कालीन रुढ़िवादी और नियमित शिक्षा प्रणालीके बदले स्वाभाविक और स्वतः प्रवृत्त शिक्षा दी जाय। उन दिनों लड़के और लड़कियाँ छैले पुरुषों और छबीली स्त्रियोंके समान बन-सँवरकर निकलते थे और उन्हें शिक्षा भी प्रायः सामाजिक शिष्टाचार और नृत्यकी ही दी जाती थी। उनकी बौद्धिक शिक्षा भी वही रूढ़िगत ही थी जिसमें लैटिन व्याकरण, थोड़ासा शब्द-ज्ञान और थोड़ा रटाईका काम था। रूसोने इन सबका घोर विरोध किया और अपने एमील नामक ग्रन्थमें उसने एक काल्पनिक शिष्य एमीलकी सृष्टि करके उसे अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दिलाकर यह दिखलाया है कि जन्मसे लेकर पूरे मनुष्य होनेतक वह किस प्रकार बिना शिक्षकके सब कुछ स्वयं सीख लेता है। ग्रन्थके प्रारंभमें ही वह अपने मूल सिद्धान्तकी व्याख्या करता हुआ कहता है—

"प्रकृतिकर्त्ताके हाथसे आई हुई प्रत्येक वस्तु अच्छी होती है किन्तु मनुष्यके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो जाती है"। इस सिद्धान्तकी विस्तृत व्याख्या करनेके उपरान्त वह कहता है

कि हमारी शिक्षा तीन प्रकारके अध्यापकोंसे होती है—वे हैं प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ। हमारी पूर्णताके लिये इन तीनों शिक्षकोंके सहयोगकी आवश्यकता है। किन्तु प्रकृतिके ऊपर हमारा कोई वश नहीं है इसलिये हमें चाहिए कि मनुष्य और पदार्थोंको प्रकृतिकी ओर प्रेरित करें और अपनी शिक्षा-पद्धतिको शुद्ध प्राकृतिक बनावें।

एमीलके पाँच खण्ड

एमील पाँच खण्डोंमें विभक्त है। इनमेंसे चारमें तो क्रमशः एमीलके शैशव, बालकत्व, किशोरत्व और युवावस्था-की शिक्षाका विवरण है और पाँचवें खंडमें उस की भावी पत्नी सोफ़ी का विवरण है।

पहले खंडमें एमीलके जन्मसे लेकर पाँच वर्षकी अवस्था तकका वर्णन है जिसमें शिशुकी इच्छा केवल शारीरिक स्फूर्त्ति, खेलकूद और चलने-फिरनेकी होती है। इसलिये एमीलको भी सीधे-सादे स्वतंत्र और स्वस्थ वातावरणमें रखना चाहिए जिससे वह उस वातावरणका अधिकसे अधिक लाभ उठा सके। उसे गाँवोंमें ले जाना चाहिए जहाँ वह प्रकृतिके समीपतम रह सके और सभ्यताके छुतहे कुप्रभावसे बहुत दूर हो। उसकी शारीरिक वृद्धि और शिक्षा यथासंभव स्वतःप्रवृत्त होनी चाहिए। उसे न औषधसे काम हो न वैद्यसे जबतक कि वह विशेष संकटमें ही न पड़ जाय। टोपी, पट्टी, फीते अथवा वस्त्रसे कसकर उसका स्वाभाविक विकास

नहीं रोकना चाहिए उसकी देखरेखका काम केवल उसकी माताको ही करना चाहिए। उसे ऐसा अभ्यास डालना चाहिए कि वह गरम-ठंढे सब प्रकारके जलस्नानको सहन कर सके। तात्पर्य यह है कि उसे किसी भी विशेष प्रकारका अभ्यास नहीं डालना चाहिए क्योंकि अभ्यास और स्वतः प्रवृत्तिका परस्पर विरोध है इसलिये किसी प्रकारका अच्छा या बुरा अभ्यास अस्वाभाविक है। रूसो कहता है कि बच्चेको केवल एक ही बातका अभ्यास होना चाहिए कि उसे किसी प्रकारका अभ्यास न पड़ पावे। उसके खिलौने भी प्रकृति-जन्य होने चाहिएँ, जैसे फल-फूल लगी हुई शाखाएँ या पोस्तेकी ढँढ़ी जिसमें बीज खड़खड़ाते हों। उससे अत्यन्त सरल, सीधी और स्वाभाविक भाषामें बातचीत करनी चाहिए और उसे झटपट बोलना सिखानेके लिये बहुत हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। जिन थोड़े-बहुत शब्दोंमें वह अपने मनका भाव प्रकट कर सके उतना ही बहुत है।

इसलिये शैशव कालमें एमीलकी शिक्षा निर्बाध या अनिर्दिष्ट (निगेटिव) और केवल शारीरिक होनी चाहिए क्योंकि इस शैशव कालमें उसकी शिक्षाका उद्देश्य यही है कि बालककी वे सहज-प्रवृत्तियाँ और स्वतः प्रवृत्तियाँ विकृत या अशुद्ध न होने पावें जो स्वभावतः शुद्ध होती हैं और उसे वह स्वाभाविक स्फूर्त्ति भी मिल सके जो वह इस अवस्थामें चाहता है।

इसके पश्चात् दूसरे खंडमें आता है पाँचसे बारह वर्षकी

अवस्था तकका बालकपन। इस अवस्थामें एमील अपने हाथ-पाँवसे अधिक काम लेना चाहता है और अपने चारों ओरकी वस्तुओंको छूकर, देखकर अर्थात् अपनी ज्ञान-इन्द्रियोंसे सब वस्तुओंका अनुभव करके उनकी प्रकृति जानना चाहता है। अतः इस अवस्थामें उसके अंगों और उसकी ज्ञानेन्द्रियोंको ठीक प्रकारसे साध देना चाहिए। रूसो कहता है—"मनुष्यकी समझमें जितनी बातें आती हैं वे सब ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही आती हैं इसलिये मनुष्यका पहला विवेक ज्ञानेन्द्रिय-सिद्ध ही होता है अर्थात् वह किसी वस्तुको छूकर ही समझता है कि यह चिकना है या खुरदरा; चखकर समझता है कि यह खट्टा है या मीठा, देखकर समझता है कि यह काला है या गोरा, भद्दा है या सुन्दर, सुनकर समझता है कि यह श्रुति-मधुर है या कर्णकटु, सूँघकर समझता है कि इसमें सुगन्ध है या दुर्गन्ध। इसलिये हमारे सर्वप्रथम दार्शनिक अध्यापक हैं हमारे पैर, हमारे हाथ और हमारी आँखें आदि। इसलिये विचारना सीखनेके लिये हमें अपने अंग, अपनी इन्द्रियाँ और अपने प्रत्यंगोंको काममें लाना चाहिए क्योंकि वे ही हमारे ज्ञानके ठीक साधन हैं। इस प्रकारकी शिक्षाके लिये एमीलको ऊँचे, ढीले और थोड़े कपड़े पहनने चाहिएँ, नंगे सिर घूमना चाहिए और शरीरको जाड़ा-गरमी-बरसात सहनेके योग्य बनाना चाहिए अर्थात् उसे 'लौक' के विधानके अनुसार अपने शरीरका 'कठोरीकरण' करना चाहिए। तैरना, लम्बी और ऊँची कूदका अभ्यास

करना, दीवारों और चट्टानोंपर चढ़ना भी उसे आना चाहिए। किन्तु इससे भी महत्त्वकी बात है कि प्राकृतिक साधनोंके द्वारा ठोस वस्तुको तौलने, ऊँचाई नापने और दूरीका ज्ञान करनेके लिये आँखों और कानोंको भी उसे काममें लाना चाहिए। उसे रेखाचित्र और रचनात्मक ज्यामितिका भी ज्ञान कराना चाहिए जिससे वह वस्तुओंको ठीक-ठीक समझ सके। उसके कानको ताल और लयसे परिचित करानेके लिये उसे संगीत भी सिखाना चाहिए। इसी प्रकार शरीर और ज्ञानेन्द्रियोंकी शिक्षाके द्वारा ही इसी अवस्थामें उसे बौद्धिक शिक्षा भी देनी चाहिए।

अपनी इस 'निर्बाध शिक्षा' का समर्थन करते हुए वह भावावेशमें पूछता है—क्या इस अवसरपर मैं शिक्षाके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त उपादेय नियम बताऊँ? वह है समयको काममें लाना नहीं, वरन् समयको खो देना।' बालकपनमें एमील न भूगोल पढ़ता है, न इतिहास, न भाषा, जैसा अन्य शिक्षाशास्त्री लोग चाहते हैं। उसका एमील बारह वर्षकी अवस्था तक यह भी नहीं जानता कि पोथी किस चिड़ियाका नाम है यद्यपि पोथीमें आया हुआ बहुत-सा ज्ञान वह इस अवस्था तक पा चुकता है।

एमीलको समाजके योग्य बनानेके लिये यह भी आवश्यक है कि उसे संपत्तिके विषयमें भी कुछ बता दिया जाय और साधारण शिष्टाचारका भी ज्ञान करा दिया जाय क्योंकि ये व्यावहारिक आवश्यकताकी बातें हैं। पर हाँ, उसे किसी

प्रकारकी नैतिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि विवेककी अवस्था तक पहुँचने तक उसे न तो नैतिक व्यक्तियोंका ही संपर्क प्राप्त होगा और न सामाजिक संबंधोंका, इसलिये इन नैतिक उपदेशोंका उसके लिये कोई महत्त्व नहीं है। स्वाभाविक रूपमें प्राकृतिक परिणामोंके द्वारा ही वह नैतिकताकी शिक्षा प्राप्त कर लेगा। यदि वह कुछ तोड़ता-फोड़ता है तो उसका दंड भोगकर और फल पाकर वह समझ लेगा कि वस्तुएँ तोड़नी-फोड़नी नहीं चाहिए। यदि वह झूठ बोलता है तो न उसे उपदेश दिया जाय न दंड, वरन् जब वह आगे सत्य भी बोले तो उसका विश्वास ही न किया जाय। बस, वह स्वयं झूठ बोलनेका दोष समझ लेगा। यदि वह निरंकुशताके साथ मालीकी लगाई हुई तरबूजकी बेल खोद फेंकता है और वहाँ अपने समके बीज बो देता है तो मालीसे कह देना चाहिए कि तुम भी इसके बीजोंको खोद फेंको। जब उसे अपनी हानिका अनुभव होगा तभी वह दूसरेकी सम्पत्तिका महत्त्व समझ जायगा। यह नैतिक शिक्षा भी यथावसर और यथाप्रसंग देनी चाहिए।

बारह और पन्द्रह वर्षकी किशोर अवस्थामें जब बच्चेकी शारीरिक स्फूर्ति और इन्द्रियानुभवकी वृत्ति मन्द पड़ जाती है तब एक ऐसी अवस्था आती है कि बालककी प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ उसकी इच्छाओंसे बलवत्तर हो जाती हैं और इस समय वह निरंतर प्राकृतिक दृश्योंकी ओर अधिक उन्मुख हो जाती हैं। विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेकी

उसकी क्षुधा भी सजग हो जाती है। एमीलकी इस अवस्थाका विवरण तीसरे खंडमें दिया गया है। रूसोका कहना है कि प्रकृतिने ही यह अवस्था शिक्षाके लिये उपयुक्त ठहराई है। किन्तु केवल तीन वर्षमें वह बहुत कुछ तो सीख-पढ़ सकता नहीं इसलिये उसे केवल उपादेय विषय ही अध्ययन कराने चाहिएँ और इधर-उधरके व्यर्थके विषय छोड़ देने चाहिएँ अर्थात् उसे केवल प्राकृतिक विज्ञान ही सिखाने चाहिएँ। इस खंडके अन्तमें एमीलको स्वतंत्र जीवन तथा आर्थिक आत्मनिर्भरताकी शिक्षा देनेके लिये रूसोने व्यावसायिक अनुभव और लकड़ीके डब्बे तथा तिजोरी बनानेकी शिक्षा भी जोड़ दी है। रूसोका कहना है कि शिक्षाका सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय यह है कि प्रत्येक खोजकी वस्तु बालकके कुतूहल और उसकी रुचिको उत्साहित करे क्योंकि ये दोनों बात इस अवस्थामें बालकमें विद्यमान होती ही हैं। रूसोने बताया है कि पृथ्वीका गोला, मानचित्र तथा अन्य असम्बद्ध साधनोंके द्वारा ज्योतिष और भूगोलकी शिक्षा देना अत्यन्त हास्यास्पद है। इसके बदले विभिन्न ऋतुओंमें सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाकर तथा पास पड़ोसके ऊँचे-खालेका प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर अत्यन्त स्वाभाविक रीतिसे प्रकृतिका ज्ञान कराया जा सकता है। एमील जंगलमें खो जाता है और निकलनेका मार्ग खोजकर वह इस स्वाभाविक विज्ञानका महत्त्व समझ लेता है। जब जादूगर छिपे हुए चुम्बकसे बनावटी बतख खींचता

है तो उसे देखकर बालक बिजलीका तत्त्व समझने लगता है। अपने अनुभवसे ही वह समझ लेता है कि ठोस और द्रव पदार्थों पर ठंढ और गरमीका क्या प्रभाव पड़ता है और इसी प्रकार वह तापमापक यंत्र तथा अन्य यंत्रोंका मर्म समझने लगता है। इसलिये रूसोका विचार है कि बिना पुस्तककी सहायताके वास्तविक महत्त्वका सब ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक रूपसे प्राप्त किया जा सकता है। सब पुस्तकोंमें रूसोको केवल एक पोथी अच्छी लगी है 'रौबिन्सन क्रूसो' जिसमें मनुष्यकी सब प्राकृतिक आवश्यकताएँ इस प्रकार प्रकट गई हैं कि बच्चा भी उन्हें समझ सके और जिसमें इन आश्वयकताओंकी पूर्त्तिके साधन भी उसी सरलतासे समझाए गए हैं।

चौथे खंडमें पन्द्रहसे बीस वर्ष तककी अवस्थाके एमील-का वर्णन है। इस अवस्थामें एमीलके हृदयमें काम-भावना प्रकट होने लगती हैं और यह भावना हमारे सम्पूर्ण सामाजिक और नैतिक संबन्धोंका आधार है। इसलिये इस अवस्थामें बालकका ठीकसे नियंत्रण और शिक्षण होना चाहिए। एमील-की पहली इच्छा तो यह है कि वह अपने वर्गके बालकोंके साथ हिले-मिले और अब उसे औरोंके साथ रहना सीखना भी चाहिए। रूसो कहता है कि हमने उसका शरीर बना दिया, उसका इन्द्रिय-ज्ञान पक्का कर दिया, उसकी बुद्धि परिपक्व कर दी, अब उसमें हृदय डालना शेष है। अब उसे नैतिक, स्नेही और धार्मिक होना चहिए। यहाँ भी रूसो

धार्मिक उपदेश देनेके पक्षमें नहीं है। वह कहता है कि इस युवकको उसके साथियोंमें भेजकर उसके मनोवेगोंको शिक्षित होने दो, यही प्राकृतिक उपाय है।

एमोलको पंगुशाला, अस्पताल वन्दीगृह तथा अन्य ऐसे स्थानोंमें भेजा जाय जहाँ सब प्रकारके दीन, विकलांग पीड़ित और अपराधी लोग रहते हैं किन्तु इतनी अधिक बार उसे नहीं भेजना चाहिए कि वारबार उन्हें देखकर उसका हृदय कठोर हो जाय। इस प्रकार दुःख और पीड़ाको प्रत्यक्ष देखकर उसके मनोभावों और मनोवेगोंका शिक्षण और परिष्कार होता है। एमीलको मिथ्याभिमानसे मुक्त करनेके लिये उसे कुछ दिन चापलूस, अपव्ययी और धूर्त्त लोगोंकी संगतिमें छोड़ देना चाहिए जिससे वह उनकी कुसंगतिमें रहकर और कुसंगका फल भोगकर अपने दोष सुधार ले। इस अवस्थामें उसे छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ सुनाकर हितोपदेश देना चाहिए क्योंकि अज्ञात पापीका पतन दिखाकर हम उसे बिना छेड़े ही शिक्षा दे सकते हैं।

अब ऐमील पूरा मनुष्य हो गया है। अब उसे एक जीवन-संगिनी भी चाहिए। किन्तु उसे ढूँढ़नेके पहले हमें उसकी परीक्षा भी कर लेनी चाहिए। एमीलके अंतिम खंडमें रूसोने आदर्श पत्नी सोफ़ी और स्त्रियोंकी शिक्षाका विवरण दिया है। यह रूसोका अत्यन्त हीन खंड समझा जाता है। उसने स्त्रियोंकी प्रवृत्तिका ठीक चित्रण नहीं किया है क्योंकि उसने उनका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व ही नहीं माना है। वह

कहता है कि स्त्रियाँ तो पुरुषकी प्रकृतिकी पूरक मात्र हैं। रूसोका कहना है कि पुरुषोंके समान स्त्रियोंको भी शारीरिक शिक्षा देनी चाहिए किन्तु यह शिक्षा उनके अपने स्वतंत्र विकासके लिये नहीं वरन् शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने और शक्तिशाली बच्चे पैदा करनेके लिये ही। सीना-पिरोना, बेल-बूटे काढ़ना, फीता बनाना, कलाबत्तू आदिका काम भी उन्हें इसलिये सिखाना चाहिए कि वे सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिद्वारा पुरुषको प्रसन्न कर सकें। स्त्रियोंको आज्ञा-कारी और परिश्रमी होना चाहिए और पुरुषको चाहिए कि उन्हें सब प्रकार वशमें किए रक्खे। कन्याओंको नाचना, गाना तथा अन्य कलाएँ भी सिखानी चाहिए। उन्हें धर्मकी पक्की शिक्षा देनी चाहिए और कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके संबंधमें उन्हें समाजकी इच्छाके अनुसार चलना चाहिए। स्त्रीके लिये दर्शन, कला और विज्ञान सीखना आवश्यक नहीं है किन्तु उसे पुरुषोंका अध्ययन करना अवश्य सीखना चाहिए। रूसो कहता है—"स्त्रीको चाहिए कि वह पुरुषोंकी बातचीत, आचार-व्यवहार, दृष्टिनिक्षेप और भावभंगीसे पुरुषोंके मनके भाव भलीभाँति समझ ले और जो भाव पुरुषको अच्छे लगें उनकी ठीक प्रतिक्रिया करे और यह जानने भी न दे कि उसने उनके मनोभाव ताड़ लिए।

इस प्रकार एमीलमें पुरुषोंके लिये प्राकृतिक व्यक्तिवादी शिक्षा तथा स्त्रियोंके लिये आत्म-समर्पणयुक्त कठोर शिक्षा

रूसोने निर्धारित की है और यह भी बताया है कि इस प्रकारकी शिक्षासे देशमें सुख और समृद्धिका विस्तार होगा। किन्तु वास्तवमें यह शिक्षा-पद्धिति अत्यन्त अव्यावहारिक और काल्पनिक है। कितने माता-पिताओंके पास इतना अवकाश, साधन या धैर्य है कि वे अपने पुत्रोंको इस प्रकारकी पद्धतिके अनुसार शिक्षित करें! कहाँसे वे ऐसे चापलूस, अपव्ययी और धूर्त्त लोग इकट्ठे करें जिनकी संगतिमें एमील रक्खा जा सके और फिर कहाँसे उसके लिये सोफी ढूँढ़ते फिरें। एमीलसे केवल एक यही बात सीखी जा सकती है कि शिक्षा यथासंभव प्राकृतिक हो, अनुभव-जन्य हो और व्यक्तिको समाजकी दृष्टिसे शिक्षित करे। एमीलका यह महत्त्व अवश्य है कि वर्त्तमान शिक्षाके आन्दोलनोंमें समाज-वादी, विज्ञानवादी और मनोविज्ञानवादी जो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनका मूल स्रोत एमील ही है।

वर्त्तमान शिक्षामें समाजवादी आन्दोलन

रूसोकी शिक्षा-पद्धतिके जिस पक्षपर बहुत वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है वह है सभ्यता तथा सामाजिक नियंत्रणके विरुद्ध तीव्र विद्रोह। रूसोने प्राकृतिक वातावरणको ही आदर्श माना है और सब प्रकारके सामाजिक संबंधोंको हीन और विकृत बताया है। उसके अनुसार बच्चेको पशुओंके समान सामाजिक शिक्षासे दूर एकान्तमें

पोषण करना चाहिए जबतक वह पन्द्रह वर्षका न हो जाय। उसके पश्चात् भी उसे अपने साथियोंसे हिलने-मिलनेके लिये उसने एक विचित्र और बेढंगा विधान खड़ा किया। रूसोके युगमें इस प्रकारके विद्रोहकी आवश्यकता थी और इसी प्रकारके एकान्त व्यक्तिवादसे ही प्राचीन रूढ़ियोंसे मुक्ति मिल सकती थी। अनेक प्रकारके अतिशयोक्तिपूर्ण उदाहरणोंसे उसने यह सिद्ध किया है कि मनुष्यको प्राकृतिक विधिसे ही पोषित होनेकी आवश्यकता है, साथ ही शिक्षाकी व्यवस्था पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियोंकी सड़ी हुई रूढ़ियोंको तोड़ना भी आवश्यक था। रूसोने अपनी पुस्तकोंमें अनेक प्रकारके सामाजिक आन्दोलन सुझाए थे। उसका कहना था कि समाजके प्रत्येक सदस्यको व्यावसायिक शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे अपना भी पालन-पोषण कर सकें और अपने देशवासियोंके प्रति उदारता और सहानुभूतिके साथ व्यवहार भी कर सकें। इस प्रकार रूसोके द्वारा शिक्षाका मानवीय हितसे अधिक गहरा संबंध हो गया। पैस्तालौज़ी और फ़ालेनबुर्गकी व्यावसायिक योजना, हरबार्ट द्वारा शिक्षाका नैतिक उद्देश्य, फ्रोबेलके शिक्षान्यासमें "सामाजिक सहयोग" और वर्त्तमान व्यावसायिक-शिक्षा, नैतिक-शिक्षा, विकलांगोंकी शिक्षा तथा अन्य विशिष्ट प्रकारकी शिक्षाओंपर जो बल दिया जा रहा है उन सबका मूल स्रोत एमीलमें प्राप्त होता है।

वर्त्तमान शिक्षामें वैज्ञानिक आन्दोलन

संपूर्ण सामाजिक रूढ़ियोंका बहिष्कार करके और प्रकृतिको ही एक मात्र पथ-प्रदर्शक मानकर उसने पोथी-रटन्तका विरोध किया और निरीक्षण-द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेका अधिक महत्त्व बताया। उसने पिछले समस्त संचित ज्ञानकी उपेक्षा की और उसका वश चलता तो छात्रोंके समस्त पिछले ज्ञानको छीन लेता किन्तु इतना होनेपर भी उसने अपने पाठ्यक्रममें प्राकृतिक वस्तुओंके प्रयोगका विधान किया है और प्रकृति-अध्ययन तथा निरीक्षणको विस्तारसे इतना स्थान दिया है जितना पहले कभी नहीं मिला था। इसी प्रभावके परिणाम-स्वरूप विद्यालयों और महाविद्यालयोंने अपने पाठ्यक्रमम भौतिक शक्ति, प्राकृतिक वातावरण, जीव-जन्तु और वनस्पतिका अध्ययन भी सम्मिलित कर लिया। इस विधानके द्वारा उसने केवल पैस्तालौज़ी, बेसडो, साल्त्स-मांग और रिट्टरके प्रकृति-अध्ययन और भूगोल-अध्ययनका ही नेतृत्व नहीं किया है वरन् स्पेंसर और हक्सले तथा शिक्षामें वर्त्तमान वैज्ञानिक आन्दोलनका भी दर्शन करा दिया।

वर्तमान शिक्षामें मनोवैज्ञानिक आंदोलन

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तोंमें सबसे महत्त्वकी बात यह है

कि बच्चेकी शिक्षा उसकी स्वाभाविक रुचिके अनुसार होनी चाहिए। यद्यपि रूसो स्वयं बालकोंकी मनोवृत्ति भली प्रकार नहीं पहचान सका और इस संबंधमें उसने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे भी अनगढ़ हैं, किन्तु फिर भी उसने यह बात समझ ली कि शिक्षाका एकमात्र आधार बालकका अध्ययन है। एमीलकी भूमिकामें उसने कहा है—"हम लोगोंमें जो सबसे अधिक बुद्धिमान हैं, वे अभी उन बातोंके फेरमें पड़े हैं जो सयाने लोगोंको जाननी चाहिएँ और यह नहीं समझ पाते कि बालक क्या ग्रहण कर सकते हैं। हम सदा बालकमें मनुष्यकी छाया देखते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि मनुष्य होनेके पहले भी वह कुछ है या नहीं?"

रूसोके इस सिद्धान्तका परिणाम यह हुआ कि आजकलकी शिक्षाका केन्द्र बालक बन गए। इस संबंधमें बालकके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका सिद्धान्त जो रूसोने निश्चित किया है, उसपर भी विचार कर लेना चाहिए। उसने बालकके विकासको ऐसे निश्चित विभागोंमें बाँट दिया है जिनका एक दूसरेसे कोई संबंध नहीं है और प्रत्येक विभागके लिये उसने एक विशेष प्रकारकी शिक्षाका प्रतिपादन किया है क्योंकि वह चाहता है कि एमील उदार और धर्मात्मा हो और वह भी उस अवस्थामें जब कि वह पंद्रह वर्षकी अवस्था तक आत्मरुचि और संदेहके वातावरणमें पला हो। इसीको शिक्षा-शास्त्रियोंने

"देरमें सयाना बनानेका सिद्धान्त" (थीयरी ऑफ डीलेड मैच्योरिंग) कहा है। रूसोने दिखलाया है कि बालकके जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें कुछ विशेष अन्तर होते हैं और विभिन्न अवस्थाओंमें यदि उसे उचित क्रियाएँ करनेको दी जायँ तभी उसकी पूर्णता हो सकती है और उसका ठीक-ठीक विकास हो सकता है। इसलिये वर्तमान युगमें जो यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि बालकके सोचने, अनुभव करने और काम करनेके संबंधमें किसी निश्चित प्रणालीका प्रयोग न किया जाय, इसका संपूर्ण श्रेय रूसोको ही दिया जा सकता है। रूसोने यह भी कहा है कि अध्ययनके लिये उत्सुकता और रुचिको भी प्रधानता देनी चाहिए। इस दृष्टिसे वह हरबार्ट और उसके अनुयायियोंका भी पथ प्रदर्शक है। रूसोके द्वारा ही हमने यह भी सीखा है कि शारीरिक स्फूर्ति और इन्द्रियोंकी शिक्षा भी बालकोंके लिये उनके भावी विकासमें अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। पैस्तालौजीने जो प्रकृति-निरीक्षणकी प्रणाली चलाई और फ्रोबेलने जो गतिशील क्रियाकी प्रणाली चलाई उन सबके मूल स्रोत रूसोके सिद्धान्तोंमें ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार रूसोने क्रियाशीलता उत्पन्न करनेका, समस्या उत्पन्न करनेका, बालकके अंगों और उनकी स्फूर्त्तियोंका प्रयोग करनेका महत्त्व दिखाकर शिक्षा-प्रणालीके संवर्धनमें बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया और इस दृष्टिसे हम उसे वर्तमान मनोवैज्ञनिक आन्दोलनोंका जनक कह सकते हैं। यद्यपि

उसके समयमें इस प्रकारके मनोविज्ञानका विकास नहीं हुआ था किन्तु बालकका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करके ही उसने अपने सिद्धान्त सिद्ध कर लिए थे और इस प्रकार इसने अपनेको बच्चेकी स्थितिमें रखकर संसारको बच्चेकी आँखसे देखा।

यद्यपि रूसोको वर्त्तमान शिक्षा-विधानोंका जनक कहा जाता है, किन्तु अपने समयमें उसका बहुत प्रभाव न पड़ सका और तत्कालीन विद्यालयोंमें इसपर कुछ ध्यान नहीं दिया गया।

बेसडो

रूसोकी इस प्राकृतिक शिक्षाका निश्चित रूपमें प्रथम प्रयोग बेसडोने जर्मनीमें किया और वहाँ फिलेंट स्पौटिनम (मानव संस्था) नामक शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना की गई। जोहन्न बर्नहार्ड बेसडो (१७२३-१७९०) स्वभावसे ही ऐसा व्यक्ति था कि रूसोके सिद्धान्तोंने उसे मुग्ध कर लिया। वह था तो बड़ा प्रतिभाशाली किन्तु साथ ही बड़ा अव्यवस्थित, रूढ़िवादी, विवेकहीन और अनियमित भी था। उसे यूथरल धर्मसेवाके लिये लीपजीग विश्वविद्यालयमें शिक्षा दिलाई गई थी, किन्तु वह नास्तिक निकल गया और इसलिये उसने धर्मप्रचारके कार्यको तिलांजलि दी और हौल्सटाईनमें हर फौन

ब्वालैंडके बच्चोंको शिक्षा देने लगा। इस धनी परिवारके बच्चोंको उसने पहले आसपासकी वस्तुओंके संबंधमें प्रश्न कराके तथा उनमें खेल-कूदकर शिक्षा दी। इसके कुछ दिन पश्चात् सन् १७६३ में उसने एमील पढ़ा और उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने शिक्षा-सुधारका व्रत ही ले लिया। जैसे रूसोने तत्कालीन फ्रांसकी शिक्षाका विरोध किया था उसी प्रकार बेसडोने जर्मनीकी शिक्षा-प्रणालीमें क्रान्ति प्रारंभ की, क्योंकि उन दिनों जर्मनीके विद्यालयोंमें अंधेरी और गंदी कक्षाएँ थीं। वहाँकी पढ़ाई भी अव्यवस्थित थी। शारीरिक शिक्षाका कोई प्रबंध नहीं था, नियंत्रण कड़ा था, बच्चोंको छोटा आदमी समझा जाता था और उन्हें किसी ढंगसे बच्चे पढ़ाए जाते थे और इसी विचारकी शिक्षा भी दी जाती थी। संपूर्ण वातावरणमें कृत्रिमता व्याप्त थी। पाठ्यक्रममें साहित्यका प्रभुत्व था और वह भी नीरस व्याकरण-प्रणालीसे पढ़ाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि बेसडोने शिक्षा–सुधारके लिये जो सुझाव रक्खे वे तत्काल सर्वमान्य किए जाने लगे और इनके आधारपर नई प्रकारके मानवीय विद्यालय 'सिलेंट स्पोटिनम' नामक संस्थाएँ खोली जाने लगीं जिनमें बेसडोके सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। उसने तत्कालीन राजाओं, सरकारों और पादरियोंसे सहायता माँगी और यह प्रस्ताव किया कि तत्कालीन परिबद्ध और अनाकर्षक शिक्षाके बदले पाठ्यक्रम अधिक व्यावहारिक कर दिया जाय और पाठ्यप्रणाली अधिक खेलपूर्ण। सभी

वर्गों ने इस प्रस्तावका समर्थन किया और इस योजनाके लिये शीघ्र ही दस सहस्र डालर एकत्र हो गए। छः वर्ष पश्चात् बेसडोने अपनी पाठ्यपुस्तक 'एलेमेंटारवेर्क' और अध्यापकों तथा अभिभावकोंके लिये सहायक पुस्तक 'मेथोडैनबुख' तैयार कर डाली। इस पहली पुस्तक एलेमेंटारवेर्कके साथ ६६ चित्र भी छापे गए थे जिनमें पाठ्यपुस्तकके विषयोंपर जो थे। इसमें बेसडोने कुछ तो रूसोके प्रकृतिवादी विचारोंका आधार लिया और कुछ दूसरे सुधारकों और अपने अनुभवोंका।

'एलेमेंटारवेर्क'में कमिनियस और रूसो दोनोंके सिद्धान्तोंका सम्मिश्रण है। इसे बहुतसे लोग अठारहवीं शताब्दि का ऑरबिस पिक्टस भी कहते ह। इसमें बातचीतके रूपमें वस्तुओं और शब्दोंका परिचय करवाया गया है। मेथो-डेनबुखमें उसने रूसोका पूर्ण अनुसरण नहीं किया वरन् अपनी ओरसे भी स्वाभाविक शिक्षकके विषयमें कुछ सुझाव दिए है। बच्चोंके स्वभावके सम्बन्धमें उसका कहना है कि बच्चोंको फुर्तीले कामों और धन्धोंमें बड़ी रुचि होती है। और विचित्र बात तो बेसडोने यह कही है कि विद्यार्थियोंकी रुचिका प्रयोग लैटिनकी शिक्षामें किया जाना चाहिए। इसके पश्चात् बेसडोने काम्पे, साल्समान तथा अन्य समर्थकों को साथ लेकर बच्चोंकी रुचि और आवश्यकताके आधारपर कुछ लोकप्रिय कहानियाँ लिखीं। इनमें नीति, धर्म, उपदेश तथा साधारण विज्ञानकी बातें भरी हुई थी। इन कहानी

संग्रहोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है रौबिनसन डेर युंगेरे (कनिष्ठ रौबिनसन) जो १७७६ में काम्पेने प्रकाशित कराया था।

डेस्साउके राजा लियोपोर्डने बेसडोको अच्छा वेतन, भवन, भूमि और जागीर देकर फ़िलैन्थ्रोपिनम (मानवीय विद्यालय) खोलनेकी सुविधा दे दी थी। इसमें काम्पे और साल्समान जैसे विद्वान अध्यापक थे और इनका सिद्धान्त यह था कि सब कुछ प्रकृतिके अनुकूल हो, बच्चोंकी सहज प्रवृत्तियाँ और रुचियोंको प्रोत्साहन और निर्देश दिया जाय, सीखनेकी विधियाँ भी उनकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो, तत्कालीन संपूर्ण आचार-विचार और कृत्रिमताएँ समाप्त कर दी जायँ, और बालकोंको सादे कपड़े पहनाए जायँ। यद्यपि ये सार्वभौम शिक्षामें विश्वास करते थे और धनी तथा निर्धन सबको शिक्षित करना चाहते थे, किन्तु फिर भी इनका विश्वास था कि एक वर्गकी प्राकृतिक शिक्षा हो सामाजिक कर्त्तव्य और नेतृत्वके लिये और दूसरे वर्गकी हो शिक्षा देनेके लिये। परिणामतः धनी छात्रोंको छः घंटे विद्यालयमें और दो घंटे हाथके काम करनेमें लगाने पड़ते थे और निर्धन परिवारोंके बालकोंको छः घंटे शारीरिक कामोंके लिये और दो घंटे पढ़नेमें। किन्तु हस्तकौशलकी शिक्षा सभीको दी जाती थी और साथ ही शारीरिक शिक्षा और खेल सबके लिये अनिवार्य थे। बौद्धिक शिक्षामें लैटिनके साथ देशी भाषा और फ्रांसीसी भाषाकी शिक्षा भी दी जाती थी। 'एलेमेंटारवेर्क' के साथ-

कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी दिया जाता था, जिसमें मानव-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, पशुपालन तथा उनका व्यवसाय, पेड़-पौधोंको उगाने और पोषण करनेकी विधि, धातु और रसायन, गणित और भौतिक विज्ञानके यंत्र, व्यवसाय तथा इतिहास आदिका भी ज्ञान करवाया जाता था। किन्तु थोड़े ही दिनोंमें बेसडोने समझा कि मैं बहुत आगे बढ़ गया हूँ इसलिये उसने इन विषयोंको संक्षिप्त कर दिया।

भाषाएँ बोल और पढ़कर सिखाई जाती थी और व्याकरण बहुत पीछे पढ़ाया जाता था। बातचीत, खेल, चित्र, नाटक तथा व्यावहारिक और रोचक विषयोंपर पुस्तक पढ़कर लैटिनमें कुशलता प्राप्त की जाती थी। गणित मौखिक प्रणाली-द्वारा पढ़ाया जाता था। ज्यामितिकी शिक्षा ठीक और शुद्ध रेखाचित्रके द्वारा दी जाती थी और घर, पड़ोस, नगर, देश और महाद्वीपके क्रमसे भूगोलका ज्ञान कराया जाता था।

इस विद्यालयका बड़ा प्रचार हुआ। यहाँतक कि प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी कान्टने यह कहा कि इस विद्यालयकी शिक्षाका उद्देश्य "मन्द सुधार नहीं वरन द्रुत क्रान्ति है।" यह विद्यालय बड़े विद्यार्थियोंके लिये भले ही उपयोगी न हो परन्तु छोटे बच्चोंके लिये बड़ा प्रिय हुआ। यद्यपि १७९३ में डेस्साउका फ़िलैन्थ्रौपिनम सदाके लिये बन्द हो गया, किन्तु उसके अध्यापकोंने सारे यूरोपमें फैलकर बहुतसे ऐसे विद्यालय खोल दिए। यद्यपि इन विद्यालयोंने नई शिक्षाको बड़ा प्रोत्साहन दिया, किन्तु इनकी देखा-देखी बहुतसे ऐरे-गैरे

लोगोंने भी इसी नामसे विद्यालय खोलकर इस प्रणालीकी बदनामी कराई। जो भी हो इस पद्धतिने शिक्षण-पद्धति और व्यावसायिक शिक्षाके संबंधमें बहुतसी नई प्रेरणाएँ दी जिन्हें पीछे पैस्तालौजी, फ्रोबेल और हरबार्टने पल्लवित और विकसित किया।

शिक्षामें उदारता

अठारहवीं शताब्दिमें लोगोंने धर्मार्थ विद्यालय खोलकर दीनों और निर्धनोंको शिक्षा देनेका प्रयत्न किया। इन प्रयत्नोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था थी एस० बी० सी० के० (सोसाइटी फौर दि प्रमोशन औफ क्रिश्चियन नौलेज) अर्थात् ख्रीस्ती शिक्षा समुन्नति-कारिणी सभा। इसकी स्थापना सन् १६९८ में रेवेरेंड टौमस् ब्रे द्वारा हुई। यों तो इन विद्यालयोंकी स्थापना, इनका पोषण और इनका प्रबन्ध सब स्थानीय जनता ही करती थी, किन्तु इस समितिकी ओरसे यह व्यवस्था थी कि जब पैसा घटे, उस समितिकी ओरसे पूरा कर दिया जाय। यह समिति इन धर्मार्थ विद्यालयोंका निरीक्षण भी करती थी, उनके प्रबन्धकोंको सम्मति और आदेश भी देती थी, सस्ते मूल्यमें बाइबिल, प्रार्थना-पुस्तक तथा धार्मिक-प्रश्नोत्तरी भी देती थी। अध्यापकोंकी नियुक्तिके संबंधमें भी धार्मिक, नैतिक, शैक्षणिक तथा अवस्था-संबंधी परीक्षण करती थी। इन विद्यालयोंमें अध्यापकोंका यह कार्य था कि

धार्मिक-प्रश्नोत्तरी पढ़ानेके साथ साथ बालकोंके मनसे सब अवगुण और दुराचरण निकाल दें तथा उन्हें पढ़ना, लिखना और गणित सिखावें। इन विद्यालयोंमें छात्रोंके लिये भोजन, वस्त्र और निवासकी भी व्यवस्था थी।

थोड़े ही दिनोंमें ऐसे विद्यालयोंकी संख्या इङ्गलैंड और वेल्समें दो सहस्र तक पहुँच गई थी और उनमें पचास सहस्र बालक-बालिकाओंको शिक्षा मिल रही थी। धनी लोगोंको इन निर्धनोंकी पढ़ाई बहुत अखरी और उन लोगोंने बड़ा विरोध भी किया, किन्तु एडिसन जैसे समर्थ लेखकों और साहित्य-कारोंने यह कहकर उसका समर्थन किया कि शिक्षाका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि अगली पीढ़ीमें ऐसा कोई नहीं रह जायगा जिसे पढ़ना-लिखना न आता हो और जिसे अपने धर्मका थोड़ा ज्ञान न हो। किन्तु आगे चलकर लोगोंने सहायता बन्द कर दी, निरीक्षण और शिक्षणका कार्य भी ढीला पड़ गया और इन संस्थाओंकी वृद्धि रुक गई। किन्तु इन संस्थाओंने लोगोंके मनमें यह बात अवश्य बैठा दी कि धार्मिक आधारपर राष्ट्रीय शिक्षापद्धतिकी स्थापना की जानी चाहिए। हुआ भी यही कि नैशनल सोसाइटी (राष्ट्र-समिति) ने इन बहुतसे विद्यालयोंका भार स्वयं सँभाल लिया।

इनके अतिरिक्त नौनकनफर्मिस्टों (स्वतंत्रतावादी इसाईयों) ने भी कुछ इस प्रकारके विद्यालय खोले थे और वेल्समें एक विचित्र प्रकारके धर्मार्थ विद्यालय खुल गए थे, जिन्हें चलते-फिरते विद्यालय (सरक्युलेटिंग स्कूल्स्) कहते

हैं। इन विद्यालयोंकी व्यवस्था यह थी कि ये एक स्थानपर जाकर वहाँके लोगोंके बाइबिल पढ़ना सिखा देते थे और फिर वहाँ काम हो चुकनेपर दूसरे स्थानपर चले जाते थे।

खीस्ती शिक्षा-समुन्नति-कारिणी सभामेंसे एक दूसरी सभा डाक्टर ब्रे ने शाखा रूपसे स्थापित की जो एस. पी. जे. (धर्म-प्रचार सभा) के नामसे प्रसिद्ध हुई। प्रारंभमें बहुत दिनों तक इसकी ओरसे कोई विद्यालय नहीं खोले गए, किन्तु सन् १७०६ में अमेरिकाके न्यूयौर्क नगरमें विलियम हडल-स्टनने इन्हीं धर्मार्थ विद्यालयोंके आदर्शपर विद्यालय खोले। उसकी देखा-देखी और भी बहुतसे प्रान्तोंमें ऐसे विद्यालय खुलते गए। धर्म-प्रचार सभाने इन विद्यालयोंके लिये सींगके पुट्ठोंसे मढ़ी हुई पुस्तकें, पाठ्य-पुस्तकें, कागज, मसीपात्र, प्रश्नोत्तरी, प्रार्थना-पुस्तकें, बाइबिल तथा धर्मगीत आदिकी पोथियाँ बाँध-बाँधकर भेजने की व्यवस्था की थी। बहुतसे लोगोंने इस सभाका भी विरोध किया क्योंकि उन्हें यह भय था कि कहीं इङ्गलिस्तानका ईसाई धर्म यहाँ भी अड्डा न जमा ले, किन्तु ये विद्यालय अमेरिकामें चलते ही रहे।

इन्हीं धर्मार्थ-विद्यालयोंके समान रविवार विद्यालय भी चले जिनमें निरक्षरता दूर करनेकी रविवारको शिक्षा दी जाती थी। इसका भी बहुत विरोध हुआ, किन्तु ये भी अपनी ओरसे विद्या-प्रसार करते ही रहे। उन्हींके प्रभावसे अमेरीकामें भी रविवार विद्यालय खोले गए और उनका बड़ा प्रचार हुआ। यद्यपि इन विद्यालयोंका कोई स्थायित्व नहीं

था, किन्तु इन विद्यालयोंने सार्वभौम शिक्षाका सूत्रपात अवश्य कर दिया।

शिष्याध्यापक प्रणाली (मौनीटोरियल सिस्टम)

धर्मार्थ विद्यालय तो चल ही रहे थे, किन्तु लंदनके साउथवर्क जिलेमें लंकास्टरने १७६८ में दीन बालकोंके लिये शिष्याध्यापक प्रणाली या गुरुकुल प्रणालीका एक विद्यालय खोल दिया। वहाँके बालक इतने दीन थे कि न उनके पैरोंमें जूते थे न तनपर कपड़े। लंकास्टरने यह प्रणाली निकाली कि उन बालकोंमेंसे वे कुछको चुनकर उन्हें पढ़ावें और फिर वे विद्यार्थी अन्य सब विद्यार्थियोंको पढ़ावें। यह प्रयोग बहुत सफल तो हुआ किन्तु जब लंकास्टरने इसका विस्तार करना आरंभ किया तब उसपर इतना ऋण हो गया कि उसे अपना हाथ खींच लेना पड़ा। किन्तु ब्रिटिश एण्ड फौरेन सोसाइटी (ब्रिटिश तथा विदेशी सभा) ने यह काम अपने ऊपर ले लिया। यह प्रणाली इतनी सफल हुई कि इङ्गलैंडके ईसाई चर्चमें डाक्टर एन्ड्रू बेलके अधीन ऐसे विद्यालय खोले गए। यह प्रणाली वास्तवमें भारतकी प्रणाली थी, जिसका लंकास्टर और बेलने प्रचार किया क्योंकि डाक्टर बेल भारतमें रहकर इस प्रणालीका अध्ययन कर चुके थे और इसकी उपयोगिता भी समझ चुके थे। आगे चलकर यह शिक्षा बड़ी संकुचित और यंत्रवत हो गई। फिर भी इसने इङ्गलैंडकी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीका स्थान ले लिया और फिर संयुक्त राष्ट्र

अमेरिका तक फैलकर इसने राज्यकी भी सहायता प्राप्त की और शिक्षा-पद्धतिमें भी बहुत उन्नति की।

निर्धन बच्चोंके लिये उन्नीसवीं शताब्दिमें फ्रांस, इङ्गलैंड तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें शिशु विद्यालय भी खोले गए, जिनका राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीमें महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु ये विद्यालय भी थोड़े दिनोंमें यंत्रवत हो गए। कुछ भी हो इस धर्मार्थ शिक्षा-पद्धतिने सार्वभौम और राष्ट्रीय शिक्षाके लिये मार्ग अवश्य खोल दिया।

—:※※※:—

शिक्षामें निरीक्षणवाद और व्यावसायिक साधना

धर्मार्थ शिक्षाकी विवेचना कर चुकनेपर हमें उन आंदोलनोंपर विचार करना चाहिए जो रूसोके उस प्रकृतिवादसे उत्पन्न हुए थे जिसमें कृत्रिम समाज और बनावटी शिक्षाके लिये कोई स्थान नहीं था। किन्तु समाजको नष्ट करके सभ्यताका विनाश करना अपेक्षित नहीं है, इसका पुनः निर्माण होना ही चाहिए। अतः यद्यपि रूसोने एमीलको निर्बाध शिक्षा देनेकी बात कही है, किन्तु उसे बीच-बीचमें आदेश देते रहने की आवश्यकता रूसोने भी समझी है। यद्यपि वे आदेश प्रायः अव्यावहारिक और असंगत ही थे किन्तु प्रकृतिवादको व्यवस्थित रूप सर्व प्रथम पैस्तालौजीने दिया और इस उद्देश्यसे दिया कि उचित शिक्षाके द्वारा तत्कालीन विकृत समाजको सुधारा जा सके और एक नई प्रणालीका निर्माण किया जा सके।

पैस्तालौजी

जौन हेनरिख् पैस्तालौजीका जन्म सन् १७४६ में ज्यूरिखमें हुआ। वह पाँच वर्षका था कि उसके पिता चल बसे और उसके लालन-पालनका भार उसकी उदार और धार्मिक माताके द्वारा ही हुआ। अपने बाल्यकालमें उसपर अपनी माता और अपने दादाका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके

दादा पड़ोसके गाँवमें पादरी थे। अपने इन दो अभिभावकोंके उदार सदाचरणको देखकर उसके मनमें भी यह भावना हुई कि मैं अपने आस-पासके दलित और असंस्कृत देहाती भाइयोंको ऊपर उठाऊँ। इसलिये पहले तो उसने पादरीका काम प्रारंभ किया क्योंकि पादरीके संयत जीवनमें सेवाके अधिक अवसर मिल सकते थे। किन्तु उसे वहाँ सफलता न मिल सकी। तब उसने कानून पढ़ना प्रारंभ किया, जिससे कि जनताके अधिकारोंकी रक्षा कर सके। पर इस व्यवसायमें भी उसे सफलता न मिल सकी। इन्हीं दिनों उसे रूसोका एमील तथा सामाजिक संबंध (सोशल कॉन्ट्रेक्ट) हाथ लग गया और उसने राज्य-क्रान्तिमें भाग लेकर सरकारसे विद्रोह करना प्रारंभ किया और पकड़ा गया।

सन् १७६९ में उसने किसानोंको खेतीके नये उपाय बताने प्रारंभ किए। उसने बिरमें थोड़ी सी भूमि ली और वहाँ न्यू हॉफ़ (नया खेत) चलाया, किन्तु पाँच वर्षमें यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हुआ।

इसी बीच पेस्तालौजीके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम उसने रूसोके नामपर जेक्स रखा और जिसे उसने रूसोके एमीलके समान पालन करना प्रारंभ किया। इस बालकके पालन-पोषणके समय उसे जो जो अनुभव होते थे उन्हें वह लिखता चलता था और देखता चलता था कि रूसोने जो सुझाव दिए हैं, उनका कहाँतक समर्थन हो सकता है और उनमें कहाँ बाधाएँ पड़ती थीं। इससे पेस्ता-

लौज़ी इस परिणाम पर पहुँचा कि रूसोके सिद्धांतोंका प्रयोग करनेके पहले उनमें आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिएँ। उसका यह अनुमान भी ठीक था कि बच्चेका स्वाभाविक वातावरण उसका घर ही है जहाँका शासन कठोर तो है किन्तु स्नेहसे ओत प्रोत है। इस प्रयोगसे साधारण जनताके पुनरुद्धारके लिये नये विचार और नये शिक्षा-सिद्धांत प्राप्त हुए। पैस्तालौजीको यह विश्वास हो गया कि पुस्तकोंसे ठीक शिक्षा नहीं मिल सकती और यदि ठीक शिक्षा दी जाय तो निर्धन लोग अपनी जीविका भी कमा सकते हैं और साथ ही अपनी बुद्धि और अपने नैतिक आचारको भी समुन्नत कर सकते हैं।

महात्मा गाँधीने सन् १७३७ में वर्धा शिक्षा योजनाके नामसे जो प्रणाली सुझाई थी उसका आधार पैस्तालौजीका यही सिद्धांत है। गाँधीजी भी यही चाहते थे कि हमारे देश की नब्बे प्रतिशत अशिक्षित तथा दरिद्र जनताको इस प्रकार किसी उद्योग कौशलपर अवलंबित और केंद्रित शिक्षा दी जाय कि वह उसीके सहारे अन्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती हुई उस हस्तकौशलके द्वारा अपनी जीविका भी कमा सके। पैस्तालौजीका भी ठीक यही उद्देश्य था, किन्तु अन्तर यही था कि जहाँ पैस्तालौज़ीने नैतिक विकासके लिये भी विधान किया था; वहाँ गाँधीजीने नैतिक शिक्षाकी पूर्णतः उपेक्षा की क्योंकि उनका विश्वास था कि मनोयोग-पूर्वक अपना-अपना व्यवसाय करनेसे लोगोंमें सात्विकता और नैतिकता

आ ही जायगी। किन्तु संसार इतना अच्छा है नहीं, जितना वे समझते थे।

न्यूहॉफमें पाठशाला—नया प्रयोग १७७४-८०

खेतीमें असफल होनेके पश्चात् सन् १७७४ में उसने बीस दरिद्र बच्चोंको अपने साथ रखकर और उन्हें भोजन-वस्त्र देकर पढ़ाना प्रारंभ किया। उसने इस प्रकारसे उनका दैनिक कार्यक्रम बनाया कि वे अपने आप अपने परिश्रमसे अपनी जीविका चला सकें। इसलिये उसने उन सबको सदाचार-पूर्ण धार्मिक वातावरणमें रखकर लिखने, पढ़ने, गणित करने तथा परिश्रमका काम करनेकी शिक्षा दी। बालकोंको तो खेती और फल-फूल उगानेकी शिक्षा दी जाती थी और बालिकाओंको घरेलू काम काज और सिलाई सिखाई जाती थी। जाड़े, पाले और बरसातके दिनोंमें बालक-बालिका सबको सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाया जाता था। लिखना पढ़ना सिखानेके पहले उन्हें बातचीत करना सिखलाया जाता था और बाइबिल कंठस्थ करवाई जाती थी। थोड़े ही दिनोंमें पस्तालौजीने देखा कि बच्चोंका स्वास्थ्य भी बढ़ रहा है, बुद्धि भी उन्नत हो रही है और वे सदाचारी भी बन रहे हैं। इस सफलतासे उत्साहित होकर उसने अपने छात्रोंकी संख्या बढ़ा दी। उसके पास पैसा तो था नहीं अतः सन् १७८० में उसका दीवाला निकल गया और धनकी कमीसे शिक्षाका इतना बड़ा सुंदर सफल प्रयोग समाप्त हो गया। इस प्रयोगमें

एक बात तो स्पष्ट हो गई कि हाथका काम करनेके साथ-साथ दूसरे विषयोंके ज्ञान भली प्रकारसे दिए जा सकते हैं। और यद्यपि पैस्तालौजी उस समय तक ठीक प्रकारसे बौद्धिक शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षाका सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका था किन्तु इस सामंजस्यकी संभावनाएँ निश्चित रूपसे स्पष्ट हो गई थीं।

असफल होनेपर भी उसने शिक्षाके द्वारा सामाजिक सुधार करनेका जो उदार उद्देश्य स्थिर किया था, वह नष्ट नहीं हो पाया, क्योंकि उसके एक मित्रने उसे प्रेरणा दी कि अपने विचार पुस्तक रूपमें प्रकाशित करो। सर्व प्रथम उसने दि ईवनिंग आवर ऑफ़ ए हरमिट (एक साधुका संध्याकाल) प्रकाशित किया जिसमें उसके सभी शिक्षण-सिद्धांतोंका समावेश था। किन्तु वह ग्रंथ कुछ कठिन था इसलिये लोगोंने कहा कि इसे लोक-सुबोध रूपमें लिख डालिए। तदनुसार उसने प्रसिद्ध सफल और लोकप्रिय ग्रंथ लियोनार्ड ऐंड गर्ट्रयूड (१७८१) लिखी। इस कथामें स्विज़रलैंडके बोनाल नामक गाँवकी हीन सामाजिक दशाका वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक साधारण किसान नारी वहाँकी दशा बदल देती है। श्रीमती गर्ट्रयूड अपने शराबी पतिको सुधारती है, अपने बच्चोंको शिक्षा देती है और अपने ग्रामीण समाजपर ऐसा प्रभाव डालती है कि सब लोग प्रभावित होकर उसके बताए हुए सुझाव स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् एक कुशल

अध्यापक गाँवमें आता है और गट्रॅच उसे पाठशाला चलानेकी विधि सीखता है और प्रार्थना करता है कि आप निरंतर इसी प्रकार सहयोग देती रहें। सरकारका भी ध्यान इस ओर जाता है, वहांके सुधारोंका अध्ययन किया जाता है और अन्तमें यह परिणाम निकलता है कि देशका सुधार केवल बोनाल गाँवकी पद्धतिका अनुसरण करनेपर ही हो सकता है।

इन अठारह वर्षोंमें उसके जो विचार सिद्धान्त रूपमें थे उन्हें व्यावहारिक बनानेका सहसा अवसर प्राप्त हो गया। सन् १७६८ में स्विज़रलैंडमें फ्रांसीसियोंकी हत्या हुई, युद्ध हुआ और स्तांत्स नगरमें एक अनाथालय स्थापित किया गया और उसके प्रबन्धका भार मिला पैस्तालौर्जीको। वह तो ऐसा अवसर चाहता ही था किन्तु वहाँ पहुँचनेपर उसने देखा कि न तो कोई सहायक अध्यापक है, न पुस्तकें हैं, न कुछ और सामग्री ही है। किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। उसने अस्सी बच्चोंकी शिक्षाकी एक नई विधि निकाली। इसी विधिका नाम था आन्श्वाङ्ग (बाह्यशिक्षा-विधि)। वह विधि यह थी कि अपनी ओरसे बताने और सिखानेके बदले उसने यह प्रबन्ध किया कि बच्चे स्वयं अपने अनुभव और निरीक्षणसे ज्ञान प्राप्त करें। यही उसकी निरीक्षण-प्रणालीका वास्तविक श्रीगणेश था। यद्यपि स्तांत्समें उसने बौद्धिक और शारीरिक शिक्षाका संयोग सुचारु रूपसे सिद्ध कर लिया था, किन्तु उसकी निरीक्षण-प्रणाली ही पीछे अधिक

महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगी। इस विद्यालयमें धर्म और नीतिके उपदेश नहीं दिए जाते थे प्रत्युत बच्चोंके व्यवहारमें जैसे-जैसे घटनाएँ आती थीं वैसे-वैसे उन्हें आत्मसंयम, सच्चरित्रता, सहानुभूति और कृतज्ञताका महत्त्व समझा दिया जाता था। इसी प्रकार प्रत्यक्ष उदाहरणों-द्वारा छात्रोंको वस्तुएँ दिखलाकर गणित और भाषाका ज्ञान करवाया जाता था और बातचीतमें ही सारा इतिहास और भूगोल पढ़ा दिया जाता था। यद्यपि उन्होंने प्रकृतिसे प्राकृतिक इतिहास नहीं पढ़ा था किन्तु उन्होंने यह अवश्य पढ़ा था कि जो कुछ अपने निरीक्षणसे अनुभव किया है उसको सीखे हुए ज्ञानसे संगति बैठाते रहें। इस प्रकार उसकी शिक्षा मौखिक अधिक थी। ज्ञानकी आवृत्ति या पढ़ी हुई बातको बार-बार दुहरानेपर वह अधिक महत्त्व देता था। उसकी कक्षामें सभी वर्गों और अवस्थाओंके बच्चे थे इसलिये वह निम्नतर बालककी दृष्टिसे ज्ञान देनेका प्रयत्न करता था, क्योंकि उसकी शिक्षाका यह भी उद्देश्य था कि शिक्षाको इतना सरल कर दिया जाय कि विद्यालयकी आवश्यकता ही न रहे और माता ही अपने बच्चोंको अपने आप शिक्षा दे सके।

आन्श्वाङ्ग या बाह्य-शिक्षा-विधि

पैस्तालौजीके इस सहानुभूतिमय संरक्षणमें रहकर बच्चोंकी शारीरिक नैतिक और बौद्धिक उन्नति स्पष्ट दिखाई देने लगी, किन्तु छः मासमें ही उसका प्रयोग समाप्त हो

गया क्योंकि उसके विद्यालयका भवन सैनिक कार्योंके लिये ले लिया गया। किन्तु एक दृष्टिसे यह अच्छा ही हुआ क्योंकि अधिक परिश्रमसे उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। और इन छः महीनेमें उसकी रुचि भी पारिश्रमिक शिक्षाकी ओरसे हटकर प्रारम्भिक विद्यालयके साधारण विषयोंकी शिक्षा-विधियोंके सुधारमें लग गई थी।

अपनी निरीक्षण-प्रणालीके सम्बन्धमें उसने यह प्रयत्न किया कि जितना भी कुछ अनुभव है सबको सरलतम बना दिया जाय और इस विधिको उसने निरीक्षणका क, ख, ग (दि ए० बी० सी० औफ औब्जरवेशन) कहा है। स्तांसमें ही उसने 'सिलेबरीज़' अर्थात् एकस्वरी ध्वनियोंके अभ्यासों द्वारा पुस्तक पढ़ाना प्रारम्भ किया था। इनमें यह व्यवस्था थी कि पाँचों स्वरों (ए ई आइ ओ यू) के साथ क्रमशः सब व्यंजन आगे या पीछे लगाए जायँ जैसे ए बी अब, ई बी एब, आइ बी इब, ओ बी, और तथा यू बी उब। इसी प्रकार अन्य व्यंजनोंको भी स्वरोंके साथ आगे-पीछे जोड़कर उच्चारणोंका अभ्यास कराया जाता था। जर्मन उच्चारणोंकी ध्वन्यानुकूल प्रकृतिके कारण ये अभ्यास अत्यन्त सरल हो गए थे और भौतिक ध्वनियोंके उच्चारणमें सरलता हो गई थी। इसी प्रकार उसने अन्य विषयोंकी शिक्षा सरलतम बनानेके लिये भी विधि निकाल ली थी।

कुछ घटनाओंका चक्र ऐसा हुआ कि उसे स्तांस छोड़कर बुर्गडोर्फ चला आना पड़ा। यहाँ उसके बहुतसे शिष्य अच्छे

पदों पर थे इसलिये उसने बौद्धिक और व्यावसायिक शिक्षाके प्रयोगको तो स्थगित कर रक्खा क्योंकि उस कामको फालेनबुर्ग कर ही रहा था। उसने अपने "निरीक्षणके क, ख, ग" पर अधिक ध्यान दिया और अपनी एकस्वरी ध्वनियोंका क्रमिक विस्तार भी किया। वहाँ विद्यालयकी दीवारपर लगे हुए कागजों पर बने हुए चित्रों, छेदों, और चीरोंकी संख्या, आकार-स्थान और रंगका परीक्षण कराकर भाषाका इस प्रकार अभ्यास कराया जाता था कि बालक अपने-अपने निरीक्षणको लम्बेसे लम्बे वाक्योंमें व्यक्त करें, जिन्हें वह शुद्ध कर देता था और छात्रगण उसकी आवृत्ति करते थे। गणित सिखानेके लिये उसने कुछ फट्टे बनाए थे जिनपर सौ तककी इकाइयोंके लिये बिन्दु या रेखाएँ बनी रहती थीं। इस टेबिल ऑफ़ यूनिट (इकाईके फट्टे) के सहारे विद्यार्थियोंको अंकोंका अर्थ भी ज्ञात हो जाता था और गणितके आगेके क्रम भी समझमें आ जाते थे।

ज्यामितिकी शिक्षाके लिये बच्चोंसे कोण, रेखा, वृत्त आदि ज्यामितिक रूप खिंचवाए जाते थे और इसी निरीक्षण-प्रणालीसे इतिहास, भूगोल तथा प्राकृतिक इतिहासका भी ज्ञान कराया जाता था।

यद्यपि यह प्रणाली अभी पूर्ण रूपसे व्यवस्थित नहीं हुई थी फिर भी वह इतनी लोकप्रिय हो गई कि झुण्डके झुण्ड विद्यार्थी आने लगे। बहुतसे उदार-चेता अध्यापकोंने

सहयोग देना प्रारंभ किया। अनेक प्रतिष्ठित लोग भी आकर विद्यालयकी प्रशंसा कर गए और साढ़े तीन वर्षों में पैस्तालौजीके शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होकर, उन्नत होकर प्रयोगमें आने लगे। बुर्गडोर्फमें भी उसने अपनी पुस्तक 'हाउ गरट्रूथ्ड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' (गरट्रूथ्ड अपने बच्चोंको कैसे पढ़ाती है) सन् १८०१ में प्रकाशित करके अपनी प्रणालीकी विस्तृत व्याख्या की। इस पुस्तकमें गरट्रूथ्डका नाम कहीं नहीं है प्रत्युत अपने मित्र गैसनेरको लिखे गए पंद्रह पत्रोंका संकलन है। पैस्तालौजीके अन्य ग्रन्थोंके समान इसमें भी व्यवस्था और अनुपातकी कमी है। असंगत वातों और पुनरावृत्तियोंसे यह भरी हुई है। इसलिये पैस्तालौजीके जीवनी-लेखक द्वारा संकलित किए हुए शिक्षण-सिद्धान्तोंका ब्योरा हमारे लिये पर्याप्त होगा—

१—शिक्षाका आधार निरीक्षण हो।

२—भाषाको निरीक्षणसे ही सम्बन्ध रखना चाहिए।

३—शिक्षा प्राप्त करनेके समय निर्णय तथा आलोचना नहीं करनी चाहिए।

४—शिक्षाकी प्रत्येक शाखा सरलतम तत्त्वोंसे प्रारम्भ होनी चाहिए और बालकके विकासके साथ विकसित होनी चाहिए अर्थात् ऐसे क्रमसे विकसित हो जिसका परस्पर मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हो।

५—शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थामें इतना पर्याप्त समय देना

चाहिए कि बालक नई सामग्रीको पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर ले, मुट्ठीमें कर ले।

८—शिक्षण-कार्य भी विकास-क्रमसे ही चलना चाहिए, गुरुत्वकी भावनासे नहीं।

राजनीतिक उथल-पुथलके कारण सन् १८०४ में पैस्तालौजीको अपना विद्यालय इवरडून ले जाना पड़ा। थोड़े ही दिनोंमें दूर-दूरसे विद्यार्थी आने लगे और पैस्तालौजीको ही अवसर मिला कि स्तांस तथा वुर्गडोफ़में जिन निरीक्षणात्मक प्रणालियोंका प्रारम्भ किया था उन्हें यहाँ पूर्ण करे। एकस्वरी ध्वनियाँ (सिलेबरीज) तथा इकाईके फट्टों (टेबिल ऑफ यूनिट) का सुधार किया गया और एक नई भिन्नकी सरणि (टेबिल ऑफ फ्रैक्शनस्) भी तैयार कर ली गई। इसमें बहुतसे वर्ग बने हुए थे जिन्हें असंख्य प्रकारसे बाँटा जा सकता था, इनमेंसे कुछ वर्ग तो पूरे थे और कुछ दो, तीन या यहाँ तक कि दस बराबर भागोंमें आड़े-आड़े बँटे हुए थे। इनके अतिरिक्त भिन्नके भिन्नकी सरणि या मिश्र भिन्नकी सरणि बनाई गई, जिसके वर्ग आड़े बाँटनेके बदले खड़े बांटे गए जिससे कि दो भिन्नोंको एक ही भाजक द्वारा विभक्त करनेकी क्रिया स्पष्ट हो जाती थी।

लिखने और चित्ररेखा खींचनेके लिये पहले छात्रोंको आकारोंके साधारण तत्त्व सिखा दिए जाते थे। छड़ी या अंजनी (पेंसिल) आदि वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपसे रखकर उनके समान रेखाएं श्यामपट्ट या पथर-पाटीपर खिंचवाई

जाती थीं और यह क्रम तबतक चलता रहता था जबतक सब सीधे और वर्तुलाकार रूप वे न सीख लें। इन रूपोंका अभ्यास कर चुकनेपर छात्रोंको समरूप और सुंदर आकृतियाँ बनानेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता था और इन्हीं अभ्यासोंसे लिखना भी आ जाता था। पहले तो बच्चे सरलतम अक्षरोंसे प्रारंभ करके शब्द-योजनातक अपनी पथरपाटियोंपर लिखते थे किन्तु पीछे कलमसे कागजपर लिखने लगते थे। पढ़नेके साथ ही लिखना सिखाया जाता था यद्यपि उसकी बारी पढ़नेके बहुत पीछे आती थी। रचनात्मक ज्यामिति भी रेखाचित्रों द्वारा सीखी जाती थी। बच्चोंको पहले यह अभ्यास कराया जाता था कि वे खड़ी, पड़ी, तिरछी और समानान्तर रेखाओंका भेद समझें और तब वे समकोण, लघुकोण, विषमकोण, विभिन्न प्रकारके त्रिभुज, चतुर्भुज तथा अन्य रूप पहचानते थे और अन्तमें वे स्वयं जान लेते थे कि कुछ निश्चित रेखाएँ एक दूसरेको कितने बिन्दुओं पर काटती हैं और उनसे कितने कोण त्रिभुज और चतुर्भुज बन सकते हैं। इस विषयको और भी स्पष्ट करनेके लिए पुट्ठोंको विभिन्न रूपोंमें काट लेते थे या उनकी प्रतिमूर्त्ति बनवा लेते थे। यह निरीक्षण-प्रणाली, प्रकृति-अध्ययन, भूगोल और इतिहासमें भी चलती रही। वृक्षों, फूलों और पक्षियोंको देखकर उनके चित्र खींचे जाते थे और उनपर वाद-विवाद होता था। पड़ोसकी बुरौनकी घाटीकी प्रतिमूर्त्ति बड़ी-बड़ी चौकियोंपर पूरे ब्यौरेके साथ बनाकर रख दी

जाती थी। पैस्तालौज़ीके इन सिद्धान्तोंका यह फल हुआ कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल रिट्टरने उसके भूगोल-शिक्षण-संबंधी विचारोंको समुन्नत किया और पैस्तालौज़ीके संगीतज्ञ मित्र नैगेलीने संगीत-शिक्षाके लिये इस प्रणालीका प्रयोग किया और जैसे हमारे यहाँकी स र ग म प्रणाली है उसी प्रकार पहले उसने स्वरके साधारण सप्तकोंका परिचय कराया और फिर उनके संयोगसे जटिल रागोंका शिक्षण प्रारंभ किया। इस प्रकार इवरडूनमें बीस वर्षतक यह शिक्षाका केन्द्र वर्तमान शिक्षा-पद्धतियोंकी सभी समुन्नत प्रणालियोंपर प्रयोग करता रहा। वहाँका मूलमंत्र था निरीक्षण और इस निरीक्षणका भाषाके साथ संयोग कर दिया गया था।

पैस्तालौज़ीके शिक्षा-संबंधी उद्देश्य और उनकी व्यवस्थाः—

पैस्तालौज़ीने शिक्षाकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शिक्षाका अर्थ है स्वाभाविक विकास और मनुष्यकी सब शक्तियों और योग्यताओंका साथ साथ संवर्धन! उसने अपने पहले लेख 'एक साधुका संध्याकाल'में लिखा था कि मनुष्यकी सब उदात्त शक्तियाँ न तो किसी कौशलसे प्राप्त होती हैं, न आकस्मिक संयोगसे, वरन् उनका विकास तो स्वाभाविक रूपसे होता है, और इसलिये शिक्षा भी स्वाभाविक ढंगसे दी जानी चाहिए। उसने बालककी वृद्धिकी तुलना वृक्षकी वृद्धिके साथ की है और कहा है कि जैसे किसी वृक्षके बीज और मूलमें स्थित अंग ही अगाध संबंधोंके द्वारा पूर्ण

वृक्षका रूप धारण करते हैं वैसे ही मनुष्य भी बालकपनमें प्राप्त किए हुए अंगोपांगोंका विकसित रूप बन जाता है। इसलिये उसने शिक्षाकी परिभाषामें लिखा है कि मनुष्यकी सब शक्तियों और समर्थताओंके स्वाभाविक और सर्वाङ्ग विकासात्मक संवर्धनको ही शिक्षा कहते हैं। यह विश्वास रूसोके प्रकृतिवादके ही समान है जिसमें कहा गया है कि अपने भीतरसे ही स्वयं संवर्धन होना चाहिए। किन्तु रूसोने इसको इस पक्षसे देखा था कि बालकको स्वतंत्र और निर्बाध छोड़ दिया जाय, किन्तु उसने अपने इस शिक्षा-सिद्धान्तको स्पष्ट और व्यवस्थित करके किसी विद्यालयमें उसका प्रयोग नहीं किया। पैस्तालौज़ीने इस रूसोके सिद्धांतको कुछ घटा-बढ़ाकर सब परिस्थितियों और योग्यताओंके बालकोंपर प्रयोग किया। रूसोने तो एमील नामके एक धनी परिवारके बालक-को शिक्षित बनानेकी योजना बनाई थी किन्तु पैस्तालौज़ीने यह सोचा कि मानसिक और नैतिक विकासके द्वारा समाजका सुधार भी हो सकता है और उसकी दरिद्रता भी दूर की जा सकती है। उसकी शिक्षाका मुख्य सिद्धान्त निरी-क्षण था। वह सुग्गा-रटंतका बड़ा विरोधी था। उसने अपनी शिक्षाका आधार बनाया मनोविज्ञानको। इसका तात्पर्य यह था कि बालककी रुचि जिस वस्तुमें हो उसका निरीक्षण कराके उसके विषयमें सब बातें जान ले क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान या स्वानुभव ज्ञान सबसे अधिक प्रभावशाली और टिकाऊ होता है। उसकी प्रणाली यह थी कि प्रत्येक विषयको सरलतम

तत्त्वोंमें विश्लेषित कर दिया जाय और फिर क्रमिक अभ्यासोंके द्वारा इस प्रकार पूर्ण किया जाय कि शब्दोंकी अपेक्षा वस्तुओंका अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो। किन्तु पैस्तालौज़ी यह भी अनुभव करता था कि जो भी अनुभव हों उन्हें स्पष्ट और व्यवस्थित शब्दोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति भी आनी चाहिए नहीं तो उस ज्ञानसे लाभ ही क्या होगा। इसीलिये उसने अपने निरीक्षणके साथ अनिवार्य रूपसे भाषाका ज्ञान जोड़ दिया।

यद्यपि रूसोकी भाँति पैस्तालौजीने भी अपनी प्रणालीको वास्तविक रूप नहीं दिया किन्तु उसने यह अवश्य किया कि रूसोकी निर्बाध पद्धतिको व्यवस्थित रूप देकर पाठशालाओंमें उसका प्रयोग किया। चाहे पैस्तालौजीको पूरी सफलता न मिल पाई हो किन्तु उसके कारण समाजका बड़ा कल्याण हुआ और शिक्षाका प्रसार भी हुआ। सारांश यह है कि पैस्तालौजीने शिक्षाको सार्वजनिक बनाया, मनोविज्ञानके आधारपर उसका विकास किया और नई शिक्षा प्रणालियोंका अविष्कार किया। इतना ही नहीं उसने शिक्षाके क्षेत्रमें नए अनुसंधान और प्रयोग करनेके लिये द्वार खोल दिया और शिक्षाके पहले बालकका अध्ययन किया जाय इस बातको व्यवहारतः सिद्ध कर दिया। साथ ही उसने अपने पूर्ववर्ती रूसोकी निर्बाध शिक्षा-प्रणालीको व्यवस्थित और व्यावहारिक स्वरूप दिया।

थोड़े ही दिनोंमें पैस्तालौजीकी यह निरीक्षण-प्रणाली संपूर्ण यूरोप तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें फैल गई

जिसका विशेष प्रचार हौरेस मान (१७९६ से १८५९) और डॉ० एडवर्ड् ए० शैलडनने ओसवेगो प्रणालियोंकी स्थापना-के द्वारा किया। उधर फालेनबुर्ग व्यावसायिक शिक्षाका प्रचार पैस्तालौजीके सिद्धांतोंपर कर ही रहा था और वे संस्थाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि चारों ओर उसकी देखा-देखी व्यावसायिक विद्यालय यूरोप तथा अमेरिकामें फैल गए।

उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें अमेरिकामें विद्यालयोंका पुनरुद्धार आंदोलन चला। इसमें सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई हौरेस मानने और जब वह शिक्षा-समितिका प्रधान चुना गया तब उसने जो सुधार किए वे बड़े प्रशंसनीय थे। उसका विचार था कि शिक्षा सार्वभौम और निःशुल्क होनी चाहिए, बालिकाओंको बालकोंके समान शिक्षा दी जानी चाहिए, निर्धनोंको भी धनियोंके समान उन्नतिका अवसर मिलना चाहिए, सार्वजनिक विद्यालयोंमें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि धनी लोग वर्गीय विद्यालयोंको उत्कृष्ट न समझें, इस शिक्षामें केवल पढ़ने-लिखने या अन्य कौशलोंकी ही शिक्षा न दी जाय, वरन् उसका मुख्य उद्देश्य नैतिक चरित्र और सामाजिक योग्यता होनी चाहिए। उसने शिक्षाके व्यावहारिक पक्षपर भी ध्यान दिया और कहा कि विद्यालयके भवन स्वस्थ और ठीकसे बने हों जिनमें वायु, प्रकाश और पीठासनोंकी ठीक व्यवस्था हो। उसका मत था कि वैज्ञानिक सिद्धांतोंके आधारपर शिक्षा दी जानी चाहिए केवल गुरु-

वचन और रूढ़िके आधारपर नहीं। अक्षर-पद्धतिसे पढ़ना सीखनेकी अपेक्षा शब्द-पद्धतिसे पढ़नेका अभ्यास करनेपर उसने बल दिया। उसने यह भी कहा कि अध्यापकोंको शिक्षाशास्त्रका ज्ञान होना चाहिए और उनका कर्त्तव्य है कि बालकके स्वभावको समझकर कोमलता और सहानुभूतिसे उसे शिक्षा दें। उसने पेस्तालोजीकी निरीक्षण-प्रणालीका भी प्रचलन किया। पाठ्य विषयोंमें भी बीजगणित तथा बही-खातेकी शिक्षा देनेको वह निरर्थक समझता था। इसका प्रभाव यह हुआ कि विद्यालयोंकी शिक्षा-व्यवस्था सब दृष्टियोंसे सुरूप हो गई।

—:***:—

शिक्षाशास्त्रका विकास

पैस्तालौजीके शिष्य हरबार्ट और फ्रोबेल

पैस्तालौजीने शिक्षणके संबंधमें जो सुधार किए थे और जिनका व्यवहार भी अपने विद्यालयोंमें किया वे यद्यपि अस्पष्ट और केवल बालकोंके प्रति सहानुभूतिकी भावनापर ही अवलंबित थे, किन्तु वैज्ञानिक सिद्धांतोंपर आधृत न होनेपर भी वे भावी शिक्षाशास्त्री हरबार्ट और फ्रोबेलकी सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणालियोंके आधार बन गए। ये दोनों शिक्षाशास्त्री पैस्तालौजीके समकालीन शिष्य ही थे और उसकी शिक्षा-प्रणालीका प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्राप्त कर चुके थे। वहाँ इन्होंने जो कुछ देखा या समझा उसका उन्होंने अलग-अलग अपनी भावनाके अनुसार विस्तार और विकास किया।

पीछे कहा जा चुका है कि पैस्तालौजीके शिक्षाक्रममें दो निश्चित पथ थे जो विरोधीसे लगते थे, किन्तु थे वास्तवमें विरोधाभास मात्र ही। एक ओर तो पैस्तालौजी यह मानता हुआ दिखाई पड़ता है कि बालकके भीतरसे जो स्वाभाविक विकास हो वही वास्तविक शिक्षा होनी चाहिए, दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि बाहरी संसारके अनुभवसे विचार प्राप्त करके भी शिक्षा प्राप्त की जाय। पहली बात तो उसने अपने शिक्षाके उद्देश्य और परिभाषामें कह ही दी है

और उसका तात्पर्य भी यही है कि जन्मके समय ही बालकमें सब गुण अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित रहते हैं केवल उन्हींका विकास भर करना रह जाता है। अध्यापकका काम अधिकसे अधिक यही होता है कि वह इस बातमें बालककी सहायता करे कि बालककी प्रकृति अपने विकासके प्रयत्नमें सफल हो सके। यह बात पैस्तालौजीने रूसोके प्रकृतिवादमें निहित मनोविज्ञानसे ली थी। पैस्तालौजीका दूसरा पक्ष है स्वानुभूति या प्रत्यक्ष इंद्रियानुभूति जो उसकी निरीक्षण-प्रणालीमें स्पष्ट प्रकट होती है। इस स्वानुभूति या प्रत्यक्ष इंद्रियानुभूतिका मूल सिद्धांत यह है कि हमारे संपूर्ण ज्ञानका वास्तविक आधार उन तात्कालिक और सीधे प्रभावोंपर है जो हम बाहरी संसारके अनुभवसे प्राप्त करते रहते हैं। इस संबंधमें पैस्तालौजीका यह भी विचार है कि मस्तिष्ककी संपूर्ण सामग्री अध्यापक द्वारा ही बनाई जाना चाहिए।

फ्राबेलने पैस्तालौजीके प्रथम पक्षको लिया और बालकके स्वतःविकास और स्फूर्तिमय क्रियाओंको अधिक महत्त्व दिया। उधर हरबार्टने दूसरे पक्षको ग्रहण करके पाठन-प्रणाली और अध्यापन शैलीको महत्त्व दिया। वर्त्तमान शिक्षा-पर इन दोनों शिक्षा शास्त्रियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा है इस-लिये इनका विस्तारसे वर्णन करना आवश्यक है। इन दोनों-में हरबार्टको बड़ी व्यवस्थित और नियमित शिक्षा मिली थी। अपनी सूक्ष्म दार्शनिक अंतर्वृत्तिके कारण उसने पैस्ता-लौजीकी निरीक्षण-प्रणाली तथा शिक्षण-विधिको अत्यंत स्पष्ट

और निश्चित रूपमें व्यवस्थित कर दिया। उसका कहना था कि शिक्षाकी गतिको अध्यापककी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। हरबार्ट ही वास्तवमें सर्वप्रथम आचार्य है जिसने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वैज्ञानिक प्रणालीपर शिक्षा प्रणालीकी व्यवस्था की। यद्यपि फ्रोबेल भी पैस्तालौजीका शिष्य और सहकारी रह चुका था किन्तु न तो उसमें हरबार्ट जैसी प्रतिभा ही थी, न हरबार्ट जैसी विद्वत्ता ही थी और न उसके जैसी सूक्ष्म दार्शनिक अंतरदृष्टि। इसीलिये फ्रोबेलकी पद्धति न तो स्पष्ट और व्यवस्थित हो सकी न पाठन-प्रणालीपर वह विशेष ध्यान दे सका।

हरबार्टका प्रारंभिक जीवन और उसकी कृतियाँ

योहान फ्रीडरिख् हरबार्ट (१७७६—१८४१) जन्मसे ही बड़ा बुद्धिमान था। उचित शिक्षाने उसकी प्रतिभा और भी संवर्धित कर दी। उसी बुद्धिके सदुपयोगसे वह पूर्ण शिक्षा-शास्त्री और शिक्षा-तत्त्वज्ञ हुआ। हरबार्टका जन्म ओल्डनबुर्गके एक प्रतिष्ठित विद्वत्परिवारमें ४ मई सन् १७७६ को हुआ था। उसके दादा ओल्डनबुर्ग महाविद्यालयके प्रधानाचार्य थे। उसके पिता भी वकील और प्रिवी कौंसिलके सदस्य थे। उसकी माता भी विलक्षण प्रतिभा-संपन्न महिला थी, जिन्होंने हरबार्टको यूनानी भाषा, सर्वगणित और दर्शन शास्त्र पढ़नेमें सहायता दी। संभवतः इन्हीं सुविधाओंके कारण हरबार्टने और भी अधिक योग्यताके साथ अपनी विद्वत्ताका उपयोग

किया। बचपनसे ही वह अपने विद्यालयमें प्रसिद्ध हो गया था। उसने नैतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक विषयोंपर लेख लिखकर बड़ी प्रसिद्धि पा ली थी। स्नातक होनेके पूर्व ही (१७९७) उसने विश्वविद्यालय छोड़ दिया और इन्टरलाकिन (स्विट्सरलैंड) के शासकके तीन पुत्रोंका गृहाध्यापक हो गया। अगले तीन वर्षोंमें उसे पढ़ानेका बड़ा अनुभव हुआ। अपने शिष्योंको उसने जिस पद्धतिसे पढ़ाया था और जिस क्रमसे उनके ज्ञानका विकास हुआ उसका जो विवरण उसने दिया है उससे ज्ञात होता है कि उसकी व्यवस्थित शिक्षा-प्रणालीका बीज उसमें निहित है। इस युवक शिक्षकने समझ लिया कि बच्चोंमें कुछ व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं और इसलिये उसने बच्चोंकी विभिन्न अवस्थाओंके प्रति उचित ध्यान भी दिया। अपने प्रिय ग्रंथ ओडिस्सीमें उसने बताया है कि किस प्रकार बालकोंमें नैतिकता और बहुमुखी रुचियोंका संवर्धन किया जा सकता है। यही प्रारंभिक अनुभव उसके संपूर्ण शिक्षा शास्त्रका आधार था। उसके पीछेके ग्रंथोंमें बालकोंकी जिन विशेषताओं और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों-के उद्धरण हैं वे भी उसे यहींसे प्राप्त हुए। उसका बराबर यही मत रहा कि कुछ बच्चोंको लेकर उनके विकासका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना ही शिक्षक बननेकी वास्तविक तैयारी है और इसीलिये उसने अध्यापकोंके शिक्षणकी व्यवस्थामें इस प्रकारके अध्ययनको प्रधानता दी है।

स्विट्सरलैंडमें रहते हुए ही वह पैस्तालौजीसे मिलकर

उसके शिक्षा-सिद्धांतोंसे बड़ा प्रभावित हुआ था और सन् १७९९ बुर्गडोर्फकी संस्थाका निरीक्षण करनेके पश्चात् जब वह ब्रेमेनमें अपने बचे हुए विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रमको पूरा कर रहा था उस समय उसने पैस्तालौजीके विचारोंका प्रचार करना और उन्हें वैज्ञानिक रूप देना प्रारंभ कर दिया था। यहाँपर उसने वह समर्थक निबंध लिखा था—'पैस्तालौजीके अंतिम लेख—श्रीमती गैरट्र्यूडने अपने बच्चोंको कैसे शिक्षा दी—पर।" साथ ही "निरीक्षणके क, ख ग पर पैस्तालौजीके विचार"की उसने व्याख्या भी की और ग्वेट्टिंगेन विश्वविद्यालयमें शिक्षा-शास्त्रपर व्याख्यान भी दिए। वहाँ उसने जो लेख लिखे उनमें पैस्तालौजीकी शिक्षा-प्रणालीकी खरी आलोचना की और यह बताया कि वह अस्पष्ट और अव्यवस्थित है। पैस्तालौजीके समान ही उसका कहना है कि प्रत्यक्ष इंद्रियानुभवसे ज्ञानके प्रारंभिक तत्त्व तो मिल जाते हैं किन्तु शिक्षाके व्यापक निमित्तकी दृष्टिसे विद्यालयका पाठ्यक्रम निश्चित रूपसे क्रमबद्ध होना चाहिए और शिक्षाका यह व्यापक निमित्त है नैतिक आत्मानुभूति। शिक्षाके नैतिक उद्देश्यकी इस भावनाको उसने अपने "दि साइन्स ऑफ एजुकेशन" (१८०६) में स्पष्ट और पूर्ण रूपसे वर्णन कर दिया।

सन् १८०९में क्वेनिग्जबर्गके विश्वविद्यालयमें हरबार्टको इमानुअल काण्टके स्थानपर दर्शन शास्त्रका आचार्य बनाकर बुलाया गया। यहाँपर हरबार्टने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतोंका

संवर्धन किया और अबतक उसने शिक्षा-संबंधी कल्पनाओं और विचारोंमें जो समय लगाया था वह यहाँ आकर उसने उन्हें व्यावहारिक रूप देनेमें लगाया। क्वेनिग्जवर्गमें उसे केवल दर्शन शास्त्र ही नहीं पढ़ाना पड़ता था, वरन् शिक्षा-शास्त्रका भी अध्यापन करना पड़ता था इसलिये उसने सबसे पहले एक प्रकारकी व्यावहारिक प्रयोगशाला बनानेकी व्यवस्था की। क्योंकि शिक्षाके संबंधमें जो वह सैद्धांतिक भाषण देता था उसका व्यावहारिक पक्ष भी दिखाना आवश्यक था, अन्यथा कोरे सिद्धांतोंका प्रयोजन ही क्या। यहीं पर हरबार्टने वर्त्तमान ऐतिहासिक शिक्षा-संबंधी संस्था खोल दी और उसके साथ एक विद्यालय खोल दिया जिसमें अध्यापकगण जाकर सीखे हुए सिद्धांतोंका व्यावहारिक प्रयोग करते थे। इस अभ्यास-विद्यालयमें शिक्षा पानेवाले छात्र, विद्यालयोंके आचार्य या निरीक्षक बननेकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँपर जो शिक्षक होते थे वे इन छात्रोंका निरीक्षण और आलोचन करते रहते थे। हरबार्टके इन शिष्योंके परिश्रम और प्रभावसे, प्रशा तथा जर्मनीके अन्य राज्योंमें शिक्षाका अधिक प्रसार हुआ। क्वेनिग्जबर्गमें जो उसने बहुतसे ग्रंथ और लेख प्रकाशित किए उनमें विशेषतः वे ही रचनाएँ थीं जिनमें उस मनोवैज्ञानिक पद्धतिका निरूपण था जो शिक्षा-शास्त्रका आधार बन सकती थी। पर लगभग पचीस वर्ष सेवा करनेके पश्चात् वह ग्वेटिंगेनमें दर्शन शास्त्रका आचार्य होकर चला गया। अपने जीवनके

अंतिम आठ वर्ष उसने अपने शिक्षा-सिद्धांतोंको विस्तृत और व्यवस्थित करनेमें लगाए। यहाँपर उसने शिक्षा-सिद्धांतकी रूपरेखा (आउटलाइन्स ऑफ़ एज्युकेशनल डौक्ट्रिन, १८३५) नामक ग्रंथका पहला संस्करण प्रकाशित किया जिसमें उसने अपनी पूर्ण परिपक्व शिक्षा पद्धतिकी विस्तृत व्याख्या की है। इससे उसके 'यंत्रमय तत्त्वज्ञान और मनोविज्ञान' (मिकैनिकल मैटाफिज़िक्स ऐण्ड साइकौलौजी) के संबंधमें भी संक्षिप्त प्रासंगिक उद्धरण थे। किन्तु यह ग्रंथ शिक्षा-क्रमपर सबसे अधिक व्यावहारिक और सुव्यवस्थित ग्रंथ है। यह ग्रंथ उसकी अन्तिम कृति है क्योंकि इसके नए संस्करणके प्रकाशित होते होते वह अपार यश और कीर्ति लेकर इस संसारसे महाप्रयाण कर चुका था।

हरबार्टका मनोवैज्ञानिक आधार

ऐसा जान पड़ता है कि हरबार्टने अपने शिष्योंको घरपर शिक्षा देनेके समय और पैस्तालौज़ीके विद्यालयका निरीक्षण करके मनोविज्ञानको शिक्षा-प्रणालीका आधार बनानेका विचार किया होगा। किन्तु इस व्यवस्थित मनोविज्ञानकी व्याख्या करके भी उसके शिक्षण-सिद्धान्तोंको स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है। प्रायः उसका यह विचार है कि हमारे मनकी रचना बाहरी संसारके अनुभवोंसे होती है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वह सहज भावनाओं और प्रवृत्तियोंका अस्तित्व मानता ही नहीं

था। उसके अनुसार चेतनाके सरलतम तत्त्व 'विचार' हैं जो मानसिक सामग्रीके वे परमाणु हैं जो आत्माने बाहरी प्रभावोंसे मुक्त होनेके यत्नमें छोड़ फेंके हैं। आत्मा और परिस्थितिके संपर्कसे एक वार उत्पन्न होकर ये विचार स्वयं अपनी विस्फोटक शक्तिके द्वारा स्वयं अस्तित्व बन जाते हैं और निरंतर अपना संरक्षण करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। ये विचार सदा चेतनाकी ऊँचाईके निकटतम पहुँचनेका प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक विचार स्वयं चेतनाके भीतर प्रकट होनेका, अपने सहयोगी विचारोंको ऊपर उठानेका तथा असहयोगी विचारोंको नीचे गिराने या निकाल बाहर करनेका यत्न करते रहते हैं। प्रत्येक नया विचार या विचारोंका समूह पूर्वस्थित विचारोंके मेल या विरोधके अनुसार ऊपर उठता, सुधरता या हटता चलता है। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि सभी नए विचार उन विचारोंके अनुसार ग्राह्य या अग्राह्य होते हैं जो पहलेसे हमारी चेतनामें विद्यमान हैं। हरबार्टके इस "पूर्व ज्ञान" (ऐपरसेप्शन) के सिद्धांतके अनुसार कोई भी अध्यापक बालकके पूर्व संचित ज्ञानका सहारा लेकर नये विचार या विचार-समूहमें विद्यार्थीकी रुचि और एकाग्रता उत्पन्न करके उन विचारोंको धारण करानेमें सफल हो सकता है। अतः शिक्षाकी समस्या यह रह गई कि नई पाठ्य सामग्री ऐसी किस विधिसे दी जाय कि वह 'पूर्व ज्ञान' से संबद्ध हो जाय अर्थात् छात्रके पूर्व संचित ज्ञानसे मेल खा जाय। छात्रका मस्तिष्क

तो प्रधानतः शिक्षकके ही हाथमें है क्योंकि वह बालकके पूर्व संचित ज्ञान या विचार-धाराओंको बना भी सकता है और सुधार भी सकता है।

शिक्षाका उद्देश्य, उपादान, और शिक्षा-प्रणाली

ऊपर कहे हुए सिद्धान्तोंके अनुसार हरबार्टका मत है कि शिक्षाका उद्देश्य है 'नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था।' उसका विश्वास है कि यह उद्देश्य शिक्षाके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और इसके लिये प्रत्येक बालकके विचार-समूह, स्वभाव और मानसिक योग्यताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। यह समझ रखना चाहिए कि जो शिक्षा उसकी विचारधाराको अच्छी नहीं लगेगी और जिसकी ओरसे वह उदासीन और उपेक्षा-युक्त रहेगा उसमेंसे वह कभी सदाचरणके उन विचारोंको ग्रहण नहीं कर सकता जो आगे चलकर हमारे आचरणके समुज्वल आदर्श बन सकें। इन शिक्षाओंको बालकके पूर्वज्ञानसे मेल खाना ही चाहिये क्योंकि तभी वे उसके जीवनको स्पर्श कर सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि हरबार्टने रुचिको कुछ इने-गिने विद्यालयके कार्योंकी पूर्तिके लिये अस्थायी उद्दीपन मात्र नहीं माना। उसका तो कहना है कि शिक्षाके द्वारा ऐसी कुछ व्यापक रुचियाँ बना दी जायँ जो स्थायी रूपसे जीवनको प्रभावित कर सकें। पाठ्य विषय इस प्रकारसे चुने और क्रमबद्ध किए जायँ कि वे छात्रके पूर्व अनुभवसे ही केवल संबद्ध न हों, वरन् वे ऐसे हों कि पूर्ण रूपसे जीवन और आचरणके

सब संबंधोंको प्रकाशित और व्यवस्थित करते रहें।

इस 'बहुमुखी रुचि' (मैनी-साइडेड इन्टेरैस्ट) का विश्लेषण करते हुए हरबार्टने कहा है कि विचार और रुचि दोनों दो मूल स्रोतोंसे उत्पन्न होती है—एक तो अनुभव, जो हमें प्रकृतिका ज्ञान कराती है और दूसरा सामाजिक संपर्क, जिसके द्वारा हमें अपने साथी मनुष्योंके प्रति अनेक प्रकारके भाव और मनोवेग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हम रुचिको दो प्रकारकी कह सकते हैं—एक तो ज्ञानजन्य और दूसरी संपर्कजन्य। इन दो श्रेणीकी रुचियोंको हरबार्टने तीन-तीन समूहोंमें बाँटा। ज्ञानजन्य रुचियोंके तीन समूह हुए—(१) इन्द्रियभावी (ऐम्पिरिकल) जो हमारी इंद्रियोंको सीधे प्रभावित करती हैं, (२) अनुमानभावी (स्पेक्यूलेटिव) जो कार्य-कारण संबंध जाननेकी अपेक्षा रखती हैं, और सौंदर्यभावी (ऐस्थेटिक) जो आनन्द और मननपर अवलंबित है। संपर्कजन्य रुचियोंको भी तीन समूहोंमें विभक्त किया गया है (१) सहानुभूतिमय (सिम्पैथैटिक), जिसमें अन्य व्यक्तियोंसे संबंधका विचार होता है, (२) सामाजिक (सोशल), जिसमें समूची जाति या राष्ट्र सम्मिलित है, और (३) धार्मिक (रिलिजस), जिसमें दैवी सत्तासे व्यक्तिके संबंधपर विचार होता है। इसलिये शिक्षामें इन सब रुचियों का विकास होना चाहिए। इन दो प्रधान समूहोंसे मेल खानेवाली दो अध्ययन-शाखाओंका हरबार्टने निर्धारण किया है (१) ऐतिहासिक, जिसमें इतिहास, साहित्य और

भाषाओंका सन्निवेश है और (२) वैज्ञानिक, जिसमें सर्व-गणित तथा प्राकृतिक विज्ञानोंका समावेश है। यद्यपि हरबार्टने दोनों समूहोंका महत्त्व स्वीकार किया है किन्तु ऐतिहासिक समूहको इस आधारपर उसने प्रधानता दी है कि नैतिक विचारों और भावोंके संवर्धनके लिये इतिहास और साहित्यसे अधिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

यद्यपि बहुमुखी रुचिके लिये ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकारके विषय आवश्यक हैं किन्तु हरबार्टके मतसे यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रमम उन्हें इस प्रकारसे रक्खा जाय कि वे सब मिलकर एक रूप हो जायं क्योंकि इस एकरूपताके बिना बालककी चेतना भी एकरूप नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि हरबार्टने पाठ्य विषयोंके सहसंबंधका भी पूर्ण निरूपण कर दिया था जो पीछे उसके अनुयायियोंने व्यापक रूपसे ग्रहण किया। इस सह-संबंध या परस्पर-संबंध (कौरिलेशन) के सिद्धांतको पीछेके हरबार्ट-वादियोंने एकाग्रीकरण (कन्सैन्ट्रेशन) के नामसे उन्नत किया जिसका अर्थ यह था कि साहित्य और इतिहास जैसे एक या दो व्यापक विषयोंसे अन्य सब पाठ्य विषय संबद्ध कर दिए जायँ किन्तु विषय-सामग्रीका चुनाव और उनका परस्पर संबंध इस प्रकार किया जाय कि वह बहुमुखी रुचिको उद्दीप्त करे। इस विषयमें हरबार्टने बहुत कुछ नहीं कहा है। उसने विशेष रूपसे यही कहा है कि सबसे पहले ओडेसी महाकाव्य पढ़ना चाहिए क्योंकि

उसमें योरोपीय जातिके यौवनकालकी रुचियों और प्रवृत्तियों-का प्रतिनिधित्व है। इसके पश्चात् यूनानी काव्योंमें जो वर्धमान जातीय रुचियोंकी जटिलता भरी हुई है उनका अध्ययन किया जाय। जातिके साथ व्यक्तिकी समान उन्नति करानेकी भावनासे जिस अध्ययन-सामग्रीके चुनावके लिये हरबार्टने यह चलता-सा प्रयत्न किया था उसे उसके शिष्यों-ने आगे वढ़ाया और उसका विस्तार किया। ज़िल्लर आदि शिक्षा-शास्त्रियोंने इस सिद्धांतको अपने संस्कृतियुग (कल्चर-ईपौक) सिद्धांतके रूपमें स्थिर और निश्चित कर दिया।

यह विस्तृत पाठन-सामग्री लेकर, उनका परस्पर संबंध करके उन्हें व्यवस्थित करनेके संबंधमें हरबार्टने यह अनुभव किया कि बच्चेको शिक्षा देनेके लिये एक निश्चित क्रम होना चाहिए। वह चाहता था कि यह शिक्षाक्रम मानव मस्तिष्कके विकास और क्रियासे मेल खाता हुआ होना चाहिए और इसी मानसिक क्रियाके आधारपर उसने चार संगत पदोंका निर्धारण किया (१) स्पष्टता (क्लीअरनैस), अर्थात् शिक्षणीय वस्तुओं और तत्त्वोंको उपस्थित करना, (२) सहयोग (एसोसिएशन) अर्थात् इन उपस्थित की हुई वस्तुओं और तत्त्वोंको बालकके पूर्व अर्जित ज्ञानसे जोड़ देना, (३) व्यवस्था (सिस्टम) जो ज्ञान इस प्रकार जोड़ा गया है उसका युक्तियुक्त और संगत क्रम स्थापित कर देना। (४) रीति या प्रयोग (मैथड) अर्थात्

उपर्युक्त व्यवस्थाका छात्र-द्वारा नवीन अवस्थितियोंमें व्यावहारिक प्रयोग। हरबार्टने तो इस क्रमको केवल सिद्धांत रूपमें बनाया था किन्तु उसके पश्चात् उसके शिष्योंने इसे सुधारकर समुन्नत किया है। इन शिष्योंने अनुभव किया कि पूर्व ज्ञानके सिद्धांतपर चलते हुए यह आवश्यक है कि जो ज्ञान उसे नया दिया जानेवाला है उससे समता रखनेवाले उसके पूर्वसंचित ज्ञानका उसे भाव तो होना ही चाहिए और यह काम पिछले पाठोंकी आवृत्ति करके या नए पाठकी रूपरेखा बताकर या दोनों उपायोंसे पूरा किया जा सकता है। इसलिये हरबार्टके प्रसिद्ध शिष्य त्सिल्लरने स्पष्टतावाले पदको दो भागोंमें विभक्त किया (१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन) और (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेण्टेशन)। हरबार्टके दूसरे वर्तमान शिष्य राइनने 'प्रस्तावना'में एक और उपपद 'उद्देश्य' भी जोड़ दिया। अन्य तीन पदोंको भी अधिक स्पष्ट करनेके लिये पीछेके हरबार्टियोंने बदल दिया और अब शिक्षाके 'पाँच नियमित पद' इस प्रकार हो गए हैं—(१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन), (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेंटेशन), (३) तुलना और तत्त्व-निरूपण (कम्पेरिज़न एण्ड एब्स्ट्रैक्शन), (४) परिणामन (जनरलाइज़ेशन), और (५) प्रयोग (एप्लीकेशन)।

हरबार्टके सिद्धांतोंका महत्त्व और प्रभाव

सब दृष्टियोंसे पैस्तालौजीकी अपेक्षा हरबार्ट अधिक

तर्कसंगत और सुबोध था। उसने पैस्तालौजीके निरीक्षण-संबंधी अस्पष्ट सिद्धांतको अपने मनोविज्ञानसे पुष्ट कर दिया। हरबार्टके सिद्धांतोंकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसे उसने पाँच पदोंके रूपमें बहुत संकुचित कर दिया था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि हरबार्टने शिक्षाके संबंधमें बहुत विचार और व्यवस्थित बुद्धिसे काम लिया। अपनी शिक्षापद्धतिका सारांश बतलाते हुए उसने कहा कि उपदेशसे विचारचक्र बनेगा और शिक्षासे चरित्र। विचारके बिना आचार कुछ नहीं है यही मेरे शिक्षा-शास्त्रका तत्त्व है।

तुइस्कोन त्सिल्लर (१८१७-४२)

यद्यपि प्रारंभमें तो हरबार्टके सिद्धांतोंका बहुत प्रचार नहीं हुआ किन्तु उसकी मृत्युके लगभग २५ वर्ष बाद हरबार्ट-वादियोंके दो समवर्त्ती विद्यालय खुले। स्टौयके विद्यालयमें तो हरबार्टके सिद्धांत ज्योंके त्यों काममें लाए जाते थे किन्तु तुइस्कोन त्सिल्लरने उनमें आवश्यक सुधार करके हरबार्टके सिद्धांतोंका प्रचार किया। त्सिल्लरने ही सह-संबंध और एकाग्रीकरण (कौरिलेशन एण्ड कन्सन्ट्रेशन) के सिद्धांतों को व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया और उसीने संस्कृति युग (कल्चर ईपौक) के सिद्धांतका निश्चित स्वरूप स्थिर किया। वह लिखता है कि 'प्रत्येक छात्रको अपने विकासकी अवस्थाके अनुकूल, मानव समाजके साधारण मानसिक विकासके प्रत्येक विशिष्ट युगमेंसे होकर निकलना चाहिए।

इसलिये बालककी शिक्षाकी सामग्री संस्कृतिके ऐतिहासिक विकासकी उस अवस्थाकी विचार-सामग्रीसे लेनी चाहिए जो छात्रकी वर्तमान मानसिक अवस्थाके समतुल्य हो।' इसका अर्थ यह है कि यदि बालक कुमार अवस्थामें हो तो उसे मानवीय विकासके कुमार-युगकी सामग्री पढ़नेको देनी चाहिए और यदि वह युवक है तो उसे मानव सभ्यता और संस्कृतिके विकासके युवाकालीन युगका इतिहास और उस युगकी विचारधारा पढ़नेको देनी चाहिए। तिसलरने इन सिद्धांतोंके अनुसार प्रारंभिक पाठशालाओंका आठ वर्षोंका एक पाठ्यक्रम ही बना डाला था। यह हम ऊपर ही कह आए हैं कि उसीने हरबार्ट द्वारा निर्धारित शिक्षापद-को दो भागोंमें विभाजित किया और अंतिम पदको बदल दिया था।

कार्ल वोल्क मार्क स्टौय (१८१५-८५)

हरबार्टका दूसरा शिष्य था स्टौय जिसने शुद्ध रूपसे हरबार्टके सिद्धांतोंका प्रयोग किया और येनामें एक पाठ-शाला और अभ्यास-विद्यालय भी खोल दिया।

हरबार्टके इन सुधरे हुए सिद्धांतोंका बड़ा प्रचार हुआ और जर्मनीके अतिरिक्त अन्य अमेरिका आदि देशोंमें भी ये अधिक लोकप्रिय हुए।

सहसंबंध, एकाग्रीकरण और संस्कृति-युग

हरबार्टके दार्शनिक शिक्षण-सिद्धांतोंकी विवेचना करनेके

पश्चात् उसके कुछ शिक्षा-तत्त्वोंपर भी विचार करनेकी आवश्यकता है। उसने छात्रमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न करनेकी आवश्यकताको बहुत महत्त्व दिया है। यह बहुमुखी रुचि तभी उत्पन्न हो सकती है जब पहले पाठ्यक्रमके लिये उचित विषयोंका चुनाव करके उन्हें ऐसे क्रमसे बाँध दिया जाय कि वे एक दूसरेके अंग होकर परस्पर मिल जायँ और अन्योन्याश्रित हो जायँ। यह सहसंबंध दो ही प्रकारसे संभव है। (१) एक तो यह कि छात्रोंके मन तथा उनके विकासकी अवस्थाको समझकर उनके अनुकूल शिक्षा-सामग्री उनके मस्तिष्कमें पहुँचाई जाय या यों कह सकते हैं कि उनके मस्तिष्कके विकासके अनुसार उन्हें शिक्षा दी जाय और यह शिक्षाकी सामग्री अर्थात् विषय भी उनके मानसिक विकासकी अवस्थाके अनुकूल हो—(२) दूसरा विधान यह है कि शिक्षाके सभी विषयोंको साहित्य तथा विज्ञानके दो भागोंमें क्रमसे बाँध दिया जाय और सभी पाठ्य विषय इन्हीं दो विभागोंके अंतर्गत करके परस्पर संबद्ध कर दिए जायँ।

इस संबंधमें हमारा ध्यान स्वभावतः हरबार्टके संस्कृति-युग सिद्धांतकी ओर जाता है। हम ऊपर कह आए हैं कि हरबार्टके इस सिद्धांतका विकास और विस्तार उसके शिष्य त्सिल्लेर ने ही किया था। हरबार्टका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्ककी उन्नति तथा मानसिक विकासके साथ-साथ अपनी जातिकी सांस्कृतिक समुन्नतिकी प्रत्येक

अवस्थाको समझता चलता है और उसीके अनुसार उनकी पुनरावृत्ति करता चलता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक विकासके साथ-साथ अपने जातीय विकासकी विभिन्न अवस्थाएँ भी प्राप्त करता चलता है। इसलिये बालककी जातिके सांस्कृतिक विकासकी विभिन्न अवस्थाओंके द्योतक शिक्षा–साधनोंको एकत्र करके पाठ्य-क्रममें व्यवस्थित करना चाहिए। हरबार्टका यह सिद्धांत अत्यंत दार्शनिक और अव्यावहारिक था क्योंकि प्रत्येक जातिका सांस्कृतिक विकास भिन्न-भिन्न रीतिसे हुआ है और जब हम किसी एक विद्यालयमें विभिन्न जातिके बालकोंकी शिक्षाका विधान करेंगे तब वहाँ सब जातियोंके लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम बनाना असंभव हो जायगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक युगके कुछ अपने संस्कार होते हैं जिन्हें उस युगके व्यक्ति अपने अतीतके साँचेमें ढालकर ऐसा बना देते हैं कि वह अपनी परंपरासे अविछिन्न रहता हुआ युग–धर्मसे सामंजस्य स्थापित कर ले। इस संस्कारके लिये यह सचमुच आवश्यक है कि हम अपने प्राचीन साहित्यिक और सांस्कृतिक ग्रंथोंका अध्ययन अपने बालकोंको करावें। इसके अतिरिक्त जहाँतक सार्वभौम नैतिकता, सदाचार और पारस्परिक सद्भावनाकी बात है वह तो सब देशों और सब कालोंके लिये एक समान है। अतः उसके लिये हम प्रत्येक जातिकी अलग-अलग शिक्षा-व्यवस्था करना उचित नहीं समझते। हरबार्टका यह कहना

अत्यंत असंगत और निरर्थक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके क्रममं अपनी जातीय विकासकी पुनरावृत्ति करता है। यूरोपीय संस्कृतिके विकासका इतिहास यदि हम अपना सहायक माने तो इसका अर्थ यह हुआ कि बालक प्रारंभमें अत्यंत मूढ़ और जंगली होता है और निरंतर अनुभव तथा ज्ञानसे योरोपकी सभ्यताके अनुसार समुन्नत होता चलता है। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिताके और कुलके संस्कारका कोई महत्त्व नहीं है। भारतकी दृष्टिसे तो यह सिद्धांत अत्यंत निमूंल है क्योंकि हमारे यहाँ तो ऋषियोंने मंत्र द्रष्टा होकर संपूर्ण ज्ञान-विज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव किया था और यदि हम अपनी संस्कृति विकासक्रमको देख तो वैदिक कालसे लेकर अबतक हमारी अवनति ही हुई है उन्नति नहीं, तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि अपनी संस्कृतिके विकासक्रमके अनुसार हम ज्यों-ज्यों बड़े होरहे जाते ह, त्यों-त्यों मूर्ख होते जारहे ह। वास्तवमें हरबार्टका यह संस्कृति युगवाला सिद्धांत अत्यंत अस्पष्ट, भ्रामक और अमान्य है। हरबार्ट स्वयं उसका भली भाँति निरूपण नहीं कर सका और त्सिल्लेरने भी जिस प्रकार उसकी व्याख्या की वह भी बहुत बुद्धिसंगत, तर्कसंगत और समझमें आनेवाला नहीं है।

किन्तु हरबार्टने सह-संबंधका जो सिद्धांत स्थिर किया है वह अवश्य विचारणीय है। उसका तात्पर्य यह है कि छात्रोंको जो विभिन्न विषय पढ़ाए जायँ उन्हें इस प्रकार परस्पर

संबद्ध करके पढ़ाया जाय कि छात्रोंके मनपर उनके संयुक्त-रूपकी ही छाप पड़े। जैसे इतिहास पढ़ाते समय उसे भूगोल, साहित्य आदि विषयोंसे इस प्रकार संबद्ध कर दे कि छात्रोंको इतिहासके साथ-साथ भूगोल और साहित्यमें भी रुचि हो और उन्हें इस प्रकारके सह-संबधसे इतिहासका भी सांगोपांग ज्ञान हो जाय।

एकाग्रीकरण या कन्सन्ट्रेशनका अर्थ यह है कि किसी एक विषयको ही शिक्षाका केन्द्र बनाकर अन्य सब विषय उसीके आधारपर सिखाए जाँय। उदाहरणके लिये जब हम चौथी कक्षाके बच्चोंको गांधीजीका पाठ पढ़ाएँ तो उसके साथ गाँधीजीका चित्र बनाने, कातने, बुनने आदि अनेक विषयोंकी शिक्षा दे सकें। इससे एक तो लाभ यह होता है कि बहुमुखी रुचि उत्पन्न होती है, क्योंकि जब वह देखता है कि कोई दूसरा विषय उसके प्रिय विषयसे संबद्ध है तो वह दूसरे विषयमें भी रस लेने लगता है और उस एक मूल विषयसे जितने भी अधिक विषय संबद्ध होंगे उतनी ही बहुमुखी रुचि छात्रोंकी होगी। दूसरी बात यह है कि उससे हमारे मानसिक जीवनमें एकता और संगति उत्पन्न होगी। पर उसका सबसे बड़ा दोष यह भी है कि एक ही विषयको केन्द्र बनानेसे अन्य विषयोंकी शिक्षा प्रायः अस्वाभाविक रूपसे संबद्ध करनी पड़ती है और शिक्षण-प्रणाली भी नीरस हो जाती है।

धारणा और मनन (एब्सॉर्प्शन ऐण्ड रिफ्लेक्शन)

शिक्षा-विषयोंके विस्तृत क्षेत्रोंपर अधिकार करनेके लिये और उन्ह एक विशिष्ट क्रमसे परस्पर संबद्ध करनेके लिये जो उसने पंचपद-विधि निकाली उसका एक और सिद्धांत बनाया 'धारणा और मनन' उसका कहना है कि प्रत्येक नए ज्ञानका संचय और ग्रहण करनेके लिये इस दोहरी मानसिक क्रियाकी आवश्यकता होती है और इन दोनों क्रियाओंके क्रमशः आनेजानेको प्रायः 'मस्तिष्ककी श्वास-क्रिया' भी कहा गया है। धारणका अर्थ है मस्तिष्कको नए विचार और सत्य वर्णन प्राप्त करने और उनपर मनन करने योग्य बनाना। धारणा द्वारा प्राप्त किए हुए अनेक प्रकारके ज्ञानोंमें अनुकूलता उत्पन्न करते हुए उन्हें एक रूप दे देना मनन कहलाता है। इसी सिद्धांतके आधारपर हरबार्टके नियमित पंचपदोंका निर्माण हुआ।

फ्रोबेल और उसका बालोद्यान (किंडेरगार्टेन)

पैस्तालौजीके शिष्योंकी चर्चा करते हुए हमने हरबार्टके साथ फ्रोबेलका भी नाम लिया था जिसने अपने गुरुके "स्वाभाविक विकास" के सिद्धांतको विस्तृत रूपसे समुन्नत किया।

फ्रोबेलका प्रारंभिक जीवन

फ्रीडरिश विलहेम आउगुस्ट फ्रोबेल (१७८२ से १८५२) का जन्म थूरिंगी जंगलके ओबेडवोइसबाख् नामक गाँवमें

हुआ था । उसके घरका वातावरण पूर्णतः धार्मिक था। उसके पिता ल्यूथरी मतके पादरी थे। किन्तु वे अपने काममें ही इतने व्यस्त रहते थे कि फ्रोबेलकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर उनका बहुत कम ध्यान गया। उधर उसकी सौतेली माँ भी अपने ही बच्चेके प्यार-दुलारमें इतनी मग्न रहती कि वह भी फ्रोबेलकी शिक्षाके लिये समय न दे सकी। परिणाम यह हुआ कि फ्रोबेल अपने घरमें उपेक्षित ही रहा, फिर भी घरके धार्मिक वातावरणका उसपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह जीवन भर उससे प्रभावित रहा । माता-पिताकी इस उपेक्षाके कारण फ्रोबेल दिन रात घने जंगलोंमें घूमने तथा जंगली पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, फल-फूलों और विभिन्न प्राकृतिक दृश्योंके निरीक्षणमें समय बिताने लगा। इसीसे उसके मनमें एक विचित्र रहस्यकी भावना और अप्रत्यक्ष एकताके लिये खोजकी प्रवृत्ति जाग उठी और उसने अनुभव किया कि सब वस्तुओंमें एक विचित्र प्रकारका ऐसा संबंध है कि जिससे जान पड़ता है कि प्रकृतिके सभी पदार्थ एक दूसरेसे संबद्ध है और सबमें एक व्यापक अखंडता और आत्मीयता विद्यमान है।

उसका पढ़ना-लिखना तो तेरह-बाईस ही रहा । पंद्रह वर्षकी अवस्थामें वह एक वनरक्षकके पास काम सीखनेके लिये भेज दिया गया। वहाँ उसे ठीक शिक्षा तो नहीं मिल पाई, किन्तु उसने वहाँ प्रकृतिके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक संबंध स्थापित कर लिया और साथ ही वनस्पति

तथा वनसे व्यावहारिक परिचय भी बढ़ा लिया। निदान, उसके मनमें प्राकृतिक विज्ञानके अध्ययनकी जो पिपासा जागरित हुई थी उसने उसे येना विश्वविद्यालयमें नाम लिखानेको बाध्य किया। इस विश्वविद्यालयका वायुमंडल आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आंदोलन और प्रगतिवादी-विज्ञानसे ओत-प्रोत था। फ्रोबेल भी फ़िख्टीय दर्शनके उन शास्त्रार्थों से कैसे बचा रह सकता था जो राजपथपर, भोजनालयमें, गोष्ठियोंमें तथा प्रत्येक समाजमें प्रचलित थे। उसने फिख्टेके शिष्य और साथी शेलिंगकी भी यश-वृद्धिका अनुभव किया होगा। उसपर येना विश्वविद्यालयके श्लेगेलों, टीक और तोवलिस तथा उनके मित्र संरक्षक प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलेरका भी प्रभाव पड़ा होगा। साथ ही विज्ञानके प्रति जो वर्धमान प्रवृत्ति वहाँ व्याप्त थी उसकी भी छाप उसपर अवश्य पड़ी होगी। यद्यपि विज्ञानकी शिक्षासे वह आंतरिक संबंध और रहस्यमयी एकता तो उसे स्पष्ट नहीं हो पाई होगी जिसे वह खोजने निकला था, किन्तु अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें उसका कुछ न कुछ आभास उसे अवश्य मिला होगा। दुर्भाग्यवश आर्थिक संकटने उसके इस ज्ञानका द्वार बन्द कर दिया और उसे घर लौट जाना पड़ा।

'एकता'के सिद्धांतका मूर्त्तीकरण—

चार वर्षतक फ्रोबेल अपनी जीविकाके लिये भटकता फिरा। संयोगसे सन् १८०५ में जब वह फ्रांकफोर्टमें वास्तु-

कलाका अध्ययन प्रारंभ कर रहा था तभी पैस्तालौजीय आदर्श विद्यालयके आचार्य आन्टोन ग्र्यूनरसे उसकी भेंट हो गई और उन्होंने फ्रोबेलको शिक्षाके लिये योग्य समझकर अपने विद्यालयमें नियुक्त कर लिया। यहाँ उसने ग्र्यूनरकी देख-रेखमें पैस्तालौजीके सिद्धांतोंका नियमित अध्ययन किया तथा अपने सिद्धांतों और विधियोंका प्रयोग भी प्रारंभ कर दिया। कुछ विद्यार्थियोंको कागज, पुट्ठे और लकड़ीकी अनेक प्रतिकृतियाँ और प्रतिमूर्त्तियाँ बनवाकर वह इस परिणामपर पहुँचा कि क्रियात्मक तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति भी शिक्षाका महत्त्वपूर्ण साधन बन सकती है। यहाँके अनुभवके विषयमें फ्रोबेलने कहा है—'पहले ही दिनसे मैं समझ गया मानो मुझे वह वस्तु मिल गई जिसके लिये मैं तरसता था, मानो मैंने अपने जीवनका सत्य पा लिया हो और मुझे ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे पानीमें मछलीको।"

तीन वर्षतक फ्रांकफोर्टमें रहनेपर वह ईवरडूनमें अध्ययन और प्रयोगके लिये चला गया और वहाँ जो दो वर्ष उसने बिताए वे बड़े लाभ-दायक सिद्ध हुए। यहाँ उसने भौतिक विज्ञान और प्रकृति-निरीक्षणकी जो शिक्षा अपने शिष्योंको अपने पर्यटनोंके द्वारा दी उससे उसका बड़ा अनुभव बढ़ा यहाँ उसे यह भी अनुभव मिला कि बच्चोंकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिमें बच्चोंके खेलका क्या प्रभाव पड़ता है। यहीं उसने इस बातको महत्त्व दिया कि बालककी प्रारंभिक शिक्षा माताके द्वारा ही दी जानी चाहिए और यहीं

पर उसने अपना संगीतका ज्ञान बढ़ाया जिसका आगे चलकर उसकी प्रणालीमें बड़ा महत्त्व हुआ। ईवरडूनमें रहनेसे उसने यह भी अनुभव किया कि यदि शिक्षाको एकबद्ध करना है तो और भी अधिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसलिये उसने यथाशीघ्र फ्रांकफोर्टका काम छोड़कर फिरसे विश्वविद्यालयमें अध्ययन करना निश्चित किया क्योंकि वह चाहता था कि पैस्तालौजीकी प्रणालीमें जो अव्यवस्था, अनैक्य, विषयोंकी असंबद्धता और शिक्षण-विधिकी अनियमितता दिखाई पड़ती है वह मेरी शिक्षा-प्रणालीमें न हो। फलतः वह सन् १८११ में ग्वेटिंगेन गया किन्तु अगले ही वर्ष धातुशास्त्रके आचार्य श्री वोइससे प्रभावित होकर वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें चला गया और उनके संसर्गमें उसे विश्वास हो गया कि सृष्टिके पदार्थोंके विकासका परस्पर संबंध सिद्ध किया जा सकता है और उसने कहा कि उस दिनसे पत्थर और स्फटिक मेरे लिये ऐसे दर्पण बन गए जिनमें मैं मनुष्य जाति तथा मनुष्यके विकास तथा इतिहासका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँ और इस प्रकार उसने अपने "एकता" के रहस्यमय नियमको मूर्त्त रूप दे दिया।

एक वर्षके लिये वह नैपोलियनके आक्रमणका प्रतिरोध करनेवाली प्रशन सेनामें भी रहा और यहींपर उसके आजीवन सहायक लांगेथान और मिडेनडौर्फसे उसकी मित्रता हो गई जो बर्लिनमें धर्मशास्त्र पढ़ते थे। वहाँसे लौटकर वह फिर आचार्य वोइसका सहायक होकर बर्लिन विश्वविद्यालयमें

लौट आया और थोड़े दिनोंमें पूर्ण रूपसे यही सिद्धांत समझता रहा कि सृष्टिके संघटनमें कोई न कोई सात्त्विक एकता अवश्य है। किन्तु इन सबके होते हुए भी उसने अपने शिक्षा-सुधारके मूल उद्देश्यमें कोई अन्तर नहीं आने दिया। विश्व-विद्यालमें रहते समय भी वह प्लामानके पैस्तालौजीय विद्या-लयमें पढ़ाते हुए बालक-प्रकृतिका निरीक्षण बराबर करता रहा और सन् १८१६ में उसने अपने शिक्षाके सिद्धांतोंका प्रत्यक्ष प्रयोग करनेके लिये अपने पाँच छोटे-छोटे भतीजोंको शिक्षा देनेका भार ले लिया। शिक्षाके प्रचारकी भावनाने उसके मित्र मिडेनडौर्फ और लांगेथालने भी बड़ी सहायता की और इन लोगोंने मिलकर थूरिंगी गाँव कोइलहाउमें शिक्षाका सार्वभौम जर्मन विद्यालय खोल दिया। इस विद्या-लयमें शिक्षाका उद्देश्य यह था कि जिन विषयोंका परस्पर एक दूसरेसे तथा जीवनसे भली प्रकार संबंध समझा जा चुका है उन विषयोंमें छात्रोंकी स्वतःक्रियाके अभ्यास-द्वारा छात्रोंकी सब शक्तियोंका एक साथ समान रूपसे संवर्धन करना। आत्माभिव्यक्ति, स्वतंत्र विकास और सामाजिक मेल-जोल ही इस विद्यालयके मूल सिद्धांत थे। अधिकांश शिक्षा खेलके द्वारा दी जाती थी। बालोद्यानकी मूल भावना भी यहीं भासमान हुई। खुले वायुमें, विद्यालय-भवनके आस-पासवाले उपवनमें और भवनमें बहुत-सा रचनात्मक अथवा प्रयोगात्मक काम होता था। वहाँ बैठकर बच्चे बाँध, पन-चक्की, दुर्ग, प्रासाद इत्यादि बनाते थे। और जंगलमें जाकर

पशु-पक्षी, कीड़े मकोड़े और फूल-पत्तियोंकी खोज करते थे। व्यावहारिक समस्याओंका समाधान करके वे रूप और संख्याका ज्ञान प्राप्त करते थे तथा कहानियों, गीतों और कड़खोंके द्वारा कल्पना तथा भावुकताका द्वार उनके लिये खोल दिया जाता था।

इस संस्थाको लोकप्रिय बनानेके उद्देश्यसे फ्रोबेलने सन् १८२६ में अपने 'मनुष्यकी शिक्षा' नामक ग्रंथमें सविस्तर वर्णन किया है कि किस प्रकार उसने कोइलहाउमें अपने प्रयोग किए। यद्यपि यह ग्रंथ अत्यंत संक्षिप्त, आवृत्तियोंसे पूर्ण और अस्पष्ट है और इन सिद्धांतोंका पीछे अनुभवसे सुधार भी करना पड़ा किन्तु इसमें संदेह नहीं कि फ्रोबेलने अपने शिक्षा संबंधी दर्शनपर जितना कुछ कहा और लिखा है उन सबमें यह ग्रन्थ सबसे अधिक सुव्यवस्थित है। इसमें फ्रोबेलने बताया है जि यह सृष्टि क्या है, मानव जीवनका क्या अर्थ है, शिक्षाके मुख्य उद्देश्य क्या हैं और जीवनके तथा विद्यालयके मुख्य विषयोंकी विभिन्न अवस्थाओंपर उसका किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। किन्तु समय अनुकूल नहीं था और लोगोंको यह संदेह होने लगा था कि कहीं उसमें समाजवादी प्रवृत्ति न प्रविष्ट हो बैठे। सरकारकी ओरसे इस बातकी जाँच भी की गई और निरीक्षक महोदयने जाँचकर इस विद्यालयकी बड़ी प्रशंसा की।

उधर लोकापवाद चलता रहता और फ्रोबेलने समझ लिया कि यहाँ रहनेमें कल्याण नहीं है। वह स्विटसरलैंड चला

गया और वहाँ पाँच वर्षतक (१८३ —१७) उसने विभिन्न केन्द्रोंमें अपने शिक्षा-संबंधी प्रयोग किए। सहसा सन् १८३७ में बुर्गडोर्फका आदर्श विद्यालय चलाते हुए उसे यह बात सूझी की जबतक शिशु-शिक्षाका सुधार नहीं हो जाता तबतक संपूर्ण विद्यालय-शिक्षा निरर्थक और निराधार है। उसने कौमिनियसका लिखा हुआ 'शिशु-वक्षा विद्यालय' नामक ग्रंथ देखा और उसके मनमें यह भावना होने लगी कि योग्य और प्रतिभाशाली माताओंको शिक्षित करना चाहिए। साथ ही खेलके द्वारा शिक्षा देनेकी बात भी और अधिक प्रबल हो गई थी इसलिये उसने ऐसे खिलौनों खेलों, गीतों और शारीरिक गतियोंका अध्ययन और निर्माण करना प्रारम्भ किया जो बालकोंकी उन्नतिमें सहायक हों यद्यपि प्रारंभमें इन सामग्रियोंको उसने किसी प्रणालीके अनुसार व्यवस्थित नहीं किया था। दो वर्ष पश्चात् जब उसकी पत्नीकी बीमारी बढ़ती गई तब वह जर्मनी लौट आया और यहाँ उसने तीनसे सात वर्षके बच्चोंके लिये थूरिंगी जंगलके अत्यन्त रमणीय स्थल ब्लांकेन्बुर्गमें एक शिशु-विद्यालय खोल दिया और थोड़े ही दिनोंमें उसका नाम रक्खा गया 'किंडेर-गार्टेन' या बालोद्यान। पहले तो उसने इस विद्यालयका बड़ा लम्बा चौड़ा श्रुतिकटु नाम रक्खा था किन्तु फिर उसे बदलकर किंडेरगार्टेन कर दिया।

इस बालोद्यानकी बड़ी धूम मच गई और दूर-दूरसे अध्यापकगण उसे देखने आने लगे किन्तु आर्थिक कठि-

नाईके कारण सात वर्ष में ही यह विद्यालय बंद कर देना पड़ा। अगले पाँच वर्षों में वह अपनी प्रणालीपर व्याख्यान देता हुआ सारी जर्मनीमें घूमता रहा। माताओं तथा महिला शिक्षकोंको जो उसने व्याख्यान दिए उसमें इसे बड़ी सफलता मिली। सन् १८४६ में उसने साक्से माइ-निंगेनमें लीबेन्स्टाइनके गंधकके स्रोतोंके पास अड्डा जमाया और अपने प्रिय विषय किंडेरगार्टेनकी स्थापना की। इसी बीच इसे बारोनेस बैरथे फौन मारेन्होल्त्स-ब्यूलोसे भेंट हो गई जो बहुत बड़े-बड़े लोगोंको उसका विद्यालय दिखाने ले आई और मारिएन्थाल राजकी सुंदर भूमिमें उसके विद्यालयकी स्थापना दी। करा उस देवीने फ्रोबेलके अन्तिम तेरह वर्षकी क्रियाओंपर बड़ा रोचक विवरण लिखा है। फ्रोबेलकी मृत्युके पश्चात् उसीने यूरोप भरमें उसके सिद्धांतों-का प्रचार किया। उसके अन्तिम दिन बड़े हर्षमय और सफल थे किन्तु सन् १८५१ में उसके सिद्धांतोंमें और उसके भतीजे कार्ल मार्क्सके समाजवादी सिद्धांतोमें इतना भ्रम हो गया कि प्रशियाके शिक्षा-मंत्रीने आदेश निकालकर सभी किंडेरगार्टेनके स्कूल बंद करा दिए। इस अन्यायपूर्ण अपमानका उसे बड़ा धक्का लगा और एक वर्षके भीतर ही वह चल बसा।

फ्रोबेलका 'एकता'-संबंधी मूल सिद्धान्त

यद्यपि फ्रोबेलके सिद्धान्तोंमें पैस्तालोजीके विकास-क्रम

और रूसोके प्रकृतिवादके तत्त्व प्राप्त होते हैं किन्तु वस्तुतः उनपर तत्कालीन आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आन्दोलन और वैज्ञानिक प्रवृत्तिका अधिक प्रभाव पड़ा था और जान पड़ता है कि जब वह येना और बर्लिनमें रहता था उसी समय इन प्रवृत्तियोंको उसने आत्मसात् कर लिया था। फ्रोबेलकी शिक्षा-पद्धतिमें उसका अध्यात्मवाद भी था जिसकी संक्षिप्त मीमांसा कर लेना अनुचित न होगा। वह मानव तथा शेष प्रकृति दोनोंका चेतन कारण 'पूर्ण' अर्थात् ईश्वरको मानता था और इसीलिये वह सृष्टि और जीवात्मामें अभेद सम्बन्ध समझता था। अपने इस अभेदताके सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए वह कहता है—"सृष्टिके सभी पदार्थों में एक शाश्वत नियम व्याप्त होकर शासन करता है। यह सर्वशासक नियम निश्चयतः किसी सर्वव्यापक, स्फूर्त्तिमान, सजीव, चेतन तथा सार्वभौम अभेदता या 'एकता' पर अवलंबित है। यह एकता ही ईश्वर है। सब पदार्थ उसी विराट् दैवी एकतासे प्रादुर्भूत हुए हैं और उसीमें उनका मूल है। सब पदार्थ इसी दैवी एकता या ईश्वरमें और उसके द्वारा जीती हैं और रहती हैं। प्रत्येक पदार्थमें जो दैवी स्फुरण होता है वही उस पदार्थका तत्त्व है।" इसी मूल रहस्यात्मक सिद्धान्तको बार-बार फ्रोबेलने दुहराया है किन्तु शिक्षाके व्यावहारिक पक्ष अर्थात् प्रयोगसे इसका कोई अधिक संबंध नहीं है इसलिये इस विषयमें इतना ही पर्याप्त होगा।

क्रियात्मक अभिव्यक्ति ही उसकी प्रणाली

सब पदार्थोंकी दैवी एकतामें अखण्ड विश्वास रखते हुए भी फ्रोबेल कहता है कि यद्यपि प्रत्येक मनुष्यमें मानवता होती ही है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष, अपने ही निराले ढंगसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है। उसका यह भी कहना है कि जन्मके समय प्रत्येक प्राणीमें उसके विकसित चरित्रकी सुसंबद्ध तथा संयुक्त योजना विद्यमान रहती है और यदि वह योजना बीचमें कुण्ठित या बाधित न की जाय तो वह स्वतः सहज रूपसे विकसित और समुन्नत होती रहेगी। यद्यपि फ्रोबेल इस सिद्धान्तपर आद्यन्त स्थिर नहीं है और कभी-कभी बीच-बीचमें कहता भी रहता है कि इस सहज विकासको ठीक पथपर ले ही चलना चाहिए, उसको सुमूर्त करना ही चाहिए, किन्तु मुख्य रूपसे वह रूसोके सिद्धान्तका ही समर्थन करता हुआ कहता है कि 'प्रकृति ही ठीक है' और इसीलिये वह प्रवृत्तियों और आत्म-प्रेरणाओंकी पूर्ण तथा स्वतन्त्र अभिव्यक्तिका स्पष्ट समर्थक है। इसलिये उसका आग्रह है कि 'जो बात सिखानी हो या अभ्यास करानी हो उसकी शिक्षा आवश्यक रूपसे निर्बाध तथा सक्रम हो, सुझाई हुई, बताई हुई या बाधित न हो'। किन्तु इस 'विकास' को प्राप्त करनेकी उचित विधिका निर्देश करते हुए वह कहता है कि यह विकास अन्धानुकरणके बदले सजीव, आत्म-प्रेरित स्वतः-

क्रिया-द्वारा होना चाहिए। इस स्वतःक्रियाके सिद्धान्तको शिक्षाप्रणालीका रूप देनेका यह तात्पर्य नहीं है कि अध्यापक या माता-पिता जैसा कहें, बतावें या सुझावें उसके अनुसार ही क्रिया की जाय। उसका अर्थ यह है कि—

"अपनी स्वतः प्रेरणाओं और भावनाओंको पूर्ण करनेके लिये बालक स्वयं अपने मनसे सक्रिय होकर काम करे।" इसी प्रकारकी क्रियासे व्यक्तित्वका विकास होना चाहिए और शिक्षा-प्राप्तिके समय बालककी शक्तियोंको इस स्वीयत्व द्वारा ही पथ-निर्देशन मिलना चाहिए। इसी 'स्वतःक्रिया' द्वारा समुन्नत होनेकी भावनाके साथ ही 'रचनात्मकता' का भाव जुड़ा हुआ है जिसके द्वारा नए रूप और रूपोंके मेलकी सृष्टि होती है तथा नवीन भावों और विचारोंकी अभिव्यक्ति होती है। उसका कहना है कि भावोंके मौखिक विवरणकी अपेक्षा यदि विचार और वाणीके साथ मोम, मिट्टी आदि पदार्थोंसे स्वयं निर्माण करके जीवनकी अभिव्यक्ति की जाय तो वह अधिक उन्नतिकारी और प्रभावशाली होगा।

शिक्षाका सामाजिक पक्ष

यही 'स्वतःक्रिया' और 'रचनात्मकता' वाला क्रियात्मक अभिव्यक्तिका मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही फ्रोबेलकी शिक्षा-प्रणालीका मूल आधार है। यद्यपि रूसोने भी इस क्रियात्मकताको प्रधानता दी है किन्तु वह अपने ऐमीलको निर्जन, सामाजिकताहीन, निरादिष्ट, निर्बाध शिक्षा देना चाहता है, इधर

फ्रोबेल जिस प्रकार आत्माभिव्यक्तिको महत्त्वपूर्ण समझता है उसी प्रकार सामाजिक पक्षको भी कम महत्त्वका नहीं समझता। उसका स्पष्ट मत है कि स्वतःक्रिया द्वारा जो आत्मानुभूति या व्यक्ति-निर्मिति संवर्द्धित होती है वह सामाजिकताके द्वारा ही होनी चाहिए क्योंकि सामाजिकता ही मूल मानवीय प्रवृत्ति है। इसलिये वास्तविक शिक्षा मनुष्योंमें रहकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि मनुष्यको पढ़-लिखकर सामाजिक जीवनमें ही भाग लेना पड़ेगा और इस सामाजिक जीवनमें उसे घर, विद्यालय, धर्मस्थान, व्यवसाय-केन्द्र तथा राष्ट्र सभीसे कुछ-न-कुछ काम पड़ेगा और उसे अपने जीवनमें इन सभीके कुछ-न-कुछ नियम और बन्धन मानने ही पड़ेंगे। इसी प्रकार खेल-कूदकी सामूहिक क्रियाओंसे उसे केवल शारीरिक स्फूर्त्ति ही नहीं प्राप्त होती प्रत्युत बौद्धिक शिक्षा भी मिलती है। फ्रोबेलने कोइलहाउमें बोझ उठाने, खींचने, लेजाने, खोदने, फाड़ने आदि घरेलू परिश्रमके काम कराकर तथा लकड़ीके टुकड़ोंको जोड़-तोड़कर उनसे गिरजाघर, दुर्ग,प्रासाद तथा गाँवके अन्य दृश्य आदि बनवाकर इसी नैतिक और बौद्धिक वातावरणका निर्माण करनेका प्रयत्न किया था। उसके किंडेरगार्टेनका अर्थ ही यह था कि बच्चोंके लिये ऐसा 'छोटा-सा राज्य' ही स्थापित कर दिया जाय जिसमें वह शिशु-नागरिक अपने अन्य साथियोंकी सुविधाका ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ विचरण करना सीखे।

किंडेरगार्टेन या बालोद्यान

क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक आचरणके अति-रिक्त फ्रोबेलने व्यावहारिक शिक्षामें एक और नवीन योग दिया है, वह है ऐसे विद्यालयकी योजना, जिसमें न तो पुस्तक हों, न बंधे हुए बौद्धिक पाठ ही हों प्रत्युत जिसमें आद्यन्त खेल कूद, स्वतन्त्र आचरण और उल्लास भरा हो। किंडेरगार्टेनमें 'स्वतः क्रिया' तथा 'रचनात्मकता' ने सामाजिक सहयोगका आश्रय लेकर अपनी पूर्ण और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर डाली। इस पद्धतिमें अभिव्यक्तिके तीन परस्पर-बद्ध रूप हैं—(१) गीत, (२) गति और भावभंगी, तथा (३) निर्माण। इन्हींके साथ घुलती-मिलती बच्चेकी भाषा भी बढ़ती चलती है। किन्तु ये साधन अलग रहकर भी प्रायः एक दूसरेसे सहयोग करते तथा एक दूसरेका भावनिरूपण करते चलते हैं और वह सारा क्रम मिलकर सावयव पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। मान लीजिए, एक कहानी कही या पढ़कर सुनाई गई। तब उसका गीत बनाकर सुनाया गया, गति और भावभंगीका समावेश करनेके लिये उसे नाटकके रूपमें उपस्थित किया गया और फिर उस कथामें आए हुए पात्रों और स्थानोंकी मूर्त्तियाँ लकड़ी, कागज़, मिट्टी तथा अन्य किसी ऐसे पदार्थसे बनाई गई।

मातृखेल और शिशु-गीत

शिशुके अंगों, इन्द्रियों, और पुट्ठोंको सक्रिय और

स्फूर्त्तिमान करनेके लिये मातृखेलों और शिशु-गीतोंकी व्यवस्था की गई थी। साथ ही माता और शिशुकी प्यारभरी एकात्मताके द्वारा आसपासकी वस्तुओंसे उचित और यथार्थ सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है। फ्रोबेलने जो पचास 'खेल-गीत' निकाले हैं वे सभी किसी न किसी शिशु-खेल या बढ़ई, लुहार आदिके व्यवसायसे संबद्ध हैं और बालककी किसी विशेष शारीरिक, मानसिक या नैतिक आवश्यकतासे मेल खाते हैं। इन गीतोंका चुनाव और क्रम, बालकके विकासके अनुकूल रक्खा गया जिनमें बालकोंकी सहज गतियोंसे लेकर नैतिक भावनासे युक्त अनुभवोंको चित्रके द्वारा प्रदर्शन करनेकी योग्यता तकके गीत सम्मिलित हैं। प्रत्येक गीतमें तीन भाग हैं, (१) माताके निदर्शनके लिये कोई उद्देश्य-वाक्य (२) बालकको सुनानेके लिये संगीतयुक्त पद्य और (३) पद्यका भाव अभिव्यक्त करनेवाला चित्र।

फ्रोबेलने जिन 'उपहारों' और 'व्यापारों' का विधान किया है उनका उद्देश्य है बालकोंकी क्रियात्मक अभिव्यक्तिको प्रोत्साहन देना और उत्तेजित करना। दोनोंमें अन्तर यह है कि 'उपहारों द्वारा' तो विना उनका आकार बदले ही कुछ निश्चित सामग्रीको मिलाने और पुनः क्रमबद्ध करनेकी क्रिया हो सकती है किन्तु 'व्यापारों' द्वारा सामग्रियोंका आकार बदलने, सुधारने और दूसरा रूप देनेकी क्रिया भी हो सकती है। आजकल किंडेरगार्टेनमें उपहारोंके बदले

'व्यापारों' को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और उनकी संख्या तथा परिधि बहुत बढ़ा भी दी गई है।

उपहार

पहले उपहारमें विभिन्न रंगोंकी छः ऊनी गेंदोंका डब्बा है। इन गेंदोंको लुढ़काकर रंग, सामग्री, आकार, गति, दिशा और अवयवोंके संचालनकी क्रिया जानी जा सकती है। दूसरे उपहारमें कड़ी लकड़ीका गोला, घनवर्ग और नलढोल हैं। इसके द्वारा गोलेकी गतिशीलता और घन-वर्गका स्थायित्व जाना जाता है और फिर नलढोलमें इन दोनोंका समन्वय मिलता है क्योंकि उसमें एक पक्ष गोल होता है और ऊपर नीचेका पक्ष सपाट होता है। सपाट पक्षकी ओरसे रखकर उसका स्थायित्व दिखाया जा सकता है और गोलपक्षकी ओरसे उसे लिटाकर और लुढ़काकर उसकी गतिशीलता बताई जा सकती है। तीसरा 'उपहार' है एक बड़ा-सा लकड़ीका घनवर्ग जो आठ समान घनवर्गों में विभक्त होता है। इसके द्वारा भागोंका संबंध पूर्णसे तथा भागोंका परस्पर संबंध समझाया जा सकता है। उसीके द्वारा पीठासन, चौकी, सिंहासन, द्वार या सीढ़ी आदिके मौलिक रूपोंका निर्माण किया जा सकता है। इसके आगेके तीन उपहारोंमें घनवर्गको विभिन्न प्रकारसे ऐसे विभाजित कर दिया है कि विभिन्न आकार-प्रकारके ठोस रूप बनाए जा सकें और संख्या, संबंध और रूपके विषयमें बालकोंकी

रुचि जागरित करें। उनके द्वारा बालकोंको ज्यामितीय आकार, सौन्दर्यपूर्ण रूप तथा कलात्मक रेखाचित्र बनानेकी प्रेरणा मिलती है। इन छः उपहारोंके अतिरिक्त फ्रोवेलने कुछ पाटियाँ, छड़ियाँ और छल्ले भी जोड़ दिए हैं जिन्हें 'सातसे नौ तकके उपहार' कहते हैं। इस सामग्रीमें समतल, रेखा और विन्दुओंकी प्रधानता है और इनके द्वारा वर्गफल, रूपरेखा और परिधिका घनसे सम्बन्ध व्यक्त किया जा सकता है।

व्यापार

'व्यापारों' के अन्तर्गत कागज, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य ऐसी सामग्रियोंसे विभिन्न वस्तु निर्माण करनेके कामोंकी एक लम्बी सूची है। घन रूपोंवाले 'उपहारों' के साथ मिट्टीके खिलौने बनाना, पुट्ठे काटना, कागज मोड़ना और लकड़ी खोदना आदि 'व्यापारों'का संबंध मेल खाता है और समतल आदिके उपहारोंके साथ चटाई बुनना, छड़ी सीधी करना, सीना, पिरोना, कागज छेदना तथा चित्र बनानेका संबंध ठीक बैठता है।

फ्रोबैलके सिद्धान्तोंका महत्त्व और प्रभाव

फ्रोबेलने जहाँ इतनी स्वतन्त्रताकी दुहाई दी वहाँ निश्चित 'उपहारों' और 'व्यापारों'में लाकर शिक्षाको ऐसा बाँध दिया कि वह शिक्षा न होकर क्रीड़ा मात्र बन गई।

फ्रोबेलने एक बातपर ध्यान नहीं दिया कि बालक अपने स्वाभाविक जीवनमें, अपने घरेलू रहन-सहनमें अनेक प्रकारकी आकृतियों, रंगों, रूपों और पदार्थोंसे परिचित हो जाता है। घरमें भी वह अनेक प्रकारके पदार्थोंका प्रयोग कर लेता है अतः उसका इन्द्रियज्ञान इतना जड़ नहीं होता कि केवल उपहारोंसे ही उसकी इन्द्रियों और उसके अंगोंका विकास हो। किन्तु फिर भी फ्रोबेलने एक उपकार अवश्य किया कि विद्यालयोंमें जो नीरसता और शासनकी कठोरता विद्यमान थी उसमें सरसता और उल्लास लाकर भर दिया। इससे फ्रोबेलका बड़ा प्रचार हुआ और आज प्रायः सभी देशोंमें किंडेरगार्टेन स्कूल खुल गए हैं। भारतमें भुवालीके पण्डित देवीदत्तने तो एक नया लकड़ीका किंडेरगार्टेन डब्बा बनाया है जिसमें विभिन्न आकारके २५ लकड़ीके टुकड़े हैं जिनसे संसार भरकी सब भाषाओंके अक्षर तथा अनेक प्रकारके जीव, जन्तु, वस्तु, भवन आदि बनाए जा सकते हैं। यह बच्चोंका मन बहलानेका साधन अच्छा है किन्तु इससे केवल मन ही बहलता है, शिक्षा नहीं होती। सजीव चेतन बालकके लिये सजीव चेतन अध्यापककी आवश्यकता है जो अपने ज्ञान, चरित्र और व्यवहारसे बालकके भीतर बैठे हुए देवत्वको उद्बुद्ध करे, उसमें मानवताके संपूर्ण उदात्त भाव भरे और उसे तेजस्वी नागरिक बनावे। लकड़ी और मिट्टीसे खेलनेवाले बालक वह तेज नहीं प्राप्त कर सकते।

पैस्तालोजी, हरबार्ट और फ्रोबेलका तुलनात्मक प्रभाव

ऊपरके विवरणसे स्पष्ट हो गया होगा कि वर्तमान व्यावहारिक शिक्षा-पद्धतिके विकासम हरबार्ट और फ्रोबेलका कितना बड़ा हाथ था। वर्तमान विद्यालयोंके पाठ्यक्रम और शिक्षाप्रणालीमें कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं जिसका मूल हरबार्ट और फ्रोबेल तथा उनके गुरु पैस्तालौजीमें न पाया जा सके किन्तु इन तीनोंके शिक्षा-सुधारोंका मूल भी रूसोमें प्राप्त होता है। रूसोके 'प्रकृतिवाद' का ही निखरा हुआ रूप हमें पैस्तालौजीके विकास और निरीक्षणमें मिलता है और इन दोनोंका विस्तृत और व्यवस्थित रूप दिखाई पड़ता है फ्रोबेल और हरबार्टमें। अपनी निरीक्षण-प्रणालीके द्वारा पैस्तालौजीने गणित, भाषा भूगोल, प्रारंभिक विज्ञान, रेखाचित्र, लेखन, वाचन और संगीतका शिक्षण अत्यन्त समुन्नत किया और फालेनबुर्गके प्रयोगोंके द्वारा व्यावसायिक और धर्मार्थ शिक्षाका विकास हुआ। हरबार्टके नैतिक और धार्मिक उपदेशके फलस्वरूप इतिहास और साहित्यकी शिक्षामें अत्यंत महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई और उसके सुविचारपूर्ण शिक्षा-सिद्धांतों के द्वारा शिक्षापद्धतिमें क्रम और व्यवस्था स्थापित की गई। फ्रोबेलने 'स्वाभाविक विकास' की रहस्यात्मक व्याख्या करके मानव जीवनकी उस अवस्थाके लिये किंडेरगार्टेन शिक्षाका विधान किया जिसकी ओर अभीतक किसीका

ध्यान नहीं गया था। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें 'निर्बाध व्यापार', श्रमिक शिक्षा तथा क्रियात्मक अभि-व्यक्तिसे अन्य विषय प्राप्त हुए। साथ ही शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थाके मूलभूत मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सिद्धांतोंका भी विकास हुआ। पैस्तालौजीके सुधारोंका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें यूरोपमें बहुत हुआ, किन्तु अमेरिकामें औसवेगो आन्दोलनके कारण ही १८६० के लगभग उसकी चर्चा छिड़ी। फ्रोबेलका प्रभाव यूरोपमें उन्नीसवीं सदीमें अपवादसे प्रारंभ हुआ था और अमेरिकामें सन् १८८० के लगभग वह अत्यन्त प्रिय हो गया। हरबार्टके सिद्धांत और प्रयोग १८६५ से १८८५ तक जर्मनीमें बड़े लोकप्रिय हुए और अमेरिकाम १८९० के लगभग प्रचारित हुए। इसलिये यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि शिक्षाके बड़े-बड़े सुधार उन्नीसवीं शताब्दीमें ही हुए।

—:****:—

वर्तमान वैज्ञानिक युग

पिछली दो शताब्दियोंमें विज्ञानने अत्यन्त द्रुत गतिसे उन्नति की। कौपरनिकस' न्यूटन और हौवें जैसे वैज्ञानिकोंने यूनानियोंके ज्योतिष-संबंधी तथा आयुर्वेद-संबंधी सिद्धांतों-को उखाड़ फेंका। इसके पश्चात् अठारवीं शताब्दिमें ज्योतिष, भूगर्भशास्त्र, धरणी-आयु-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, जीवशास्त्र, शरीरशास्त्र, गर्भशास्त्र, रसायन-शास्त्र और भौतिक बिज्ञान आदि अनेक प्रकारके विज्ञानोंकी अभिवृद्धि हुई। ये सब वैज्ञानिक अनुसंधान व्यक्तिगत रूपसे विश्व-विद्यालयोंसे बाहर होते रहे, व्यावहारिक जीवनसे उनका कुछ भी संपर्क नहीं था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें इन वैज्ञानिक अनुसंधानोंके साथ नवीन अविष्कार और व्यावहारिक कलाओंका संबंध स्थापित हो गया और विज्ञानने मानव-जीवनको प्रभावित करना शुरू कर दिया। बिनौले निकालनेकी चक्की, सोनेकी मशीन, मुद्रण यन्त्र, टपलेखक, गैसकी वत्ती, अग्निबोट, रेलगाड़ी, तार, टेलीफोन, बेतारका तार और न जाने कितनी वस्तुएँ मनुष्यके व्यवहार और सुखके लिये पैदा की गईं। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि संसारके सत्तालोलुप अधिनायकों और साम्राज्य-वादियोंकी राज्यलिप्साको संतुष्ट और प्रवर्धित करनेके लिये वैज्ञानिकोंने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र और

विस्फोटक पदार्थ भी बनाए जिसका भयानक रूप परमाणु बम है। इस विज्ञानके ही प्रभावसे हमारे वेगमें भी इतनी उन्नति हुई कि आज रोकेट विमान द्वारा २५०० मील प्रति घंटेकी गतिसे उड़कर साढ़े तीन दिनमें चन्द्रमा तक उड़कर जाया जा सकता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर और 'सर्वाधिक उपादेय कौन-सा ज्ञान है'

जब विज्ञान इस प्रकार व्यवस्थित होने लगा तब बहुतसे विद्वानोंने यह कहना आरंभ किया कि इन वैज्ञानिक विषयोंको भी शिक्षा-क्रममें सम्मिलित किया जाय। जो लोग विज्ञानको पाठ्यक्रममें सम्मिलित करनेके पक्षमें नहीं थे उन्हें उत्तर देते हुए हर्बर्ट स्पेन्सरने (१८२०-१९०३) एक निबंध लिखा जिसका शीर्षक था 'सर्वाधिक उपादेय कौनसा ज्ञान है'। स्पेन्सरका जन्म अत्यंत कुलीन साहित्यिक और शिक्षित परिवारमें हुआ था और यद्यपि उसने अपनी शारीरिक अस्वस्थताके कारण विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी परंतु घर बैठकर उसने प्राकृतिक विज्ञान और गणितका अभ्यास किया था, अनेक वैज्ञानिक प्रयोग और अविष्कार किए थे। यद्यपि उसने शिक्षा-शास्त्रका अभ्यास नहीं किया था किन्तु उसने एक नए ढंगसे शिक्षाके उद्देश्यकी समस्याका समाधान किया और कहा कि शिक्षाका उद्देश्य है—"पूर्ण रूपसे जीनेके लिए तैयार करना।" इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उसके कथनानुसार विज्ञान ही

ऐसा साधन और ज्ञान है जो हमारे जीवनके लिये अत्यंत उपयोगी हो सकता है। इसलिये उसने कहा कि साहित्य पढ़ानेके बदले विज्ञान ही पढ़ाना चाहिए। उसका विश्वास था कि हमारे पाठ्यक्रममें ऐसी सामग्री होनी चाहिए जो हमारे आचरणको समुन्नत करे और जीवनको अधिक सुखी, अधिक उदात्त और अधिक प्रभावशाली बना सके।

टॉमस एच० हक्सले (१८२५-१८९५) ने भी हर्बर्ट स्पेंसरके समान वैज्ञानिक शिक्षाका समर्थन किया और यह बतलाया कि जितनी साहित्य-शिक्षा दी जा रही है वह सब व्यर्थ है। कौम्बे, यूमांस और ईलियट आदिने वैज्ञानिक पत्रिकाओं, संस्थाओं तथा लेखकों-द्वारा वैज्ञानिक शिक्षाका बड़ा प्रचार किया था। विज्ञानके इन समर्थकोंने यह तर्क दिया है कि मनुष्यकी कुशलता और उसके सुखके लिये प्रकृतिका ज्ञान आवश्यक है और वह प्रकृतिका वास्तविक ज्ञान हमें विज्ञानके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि अध्ययनकी अपेक्षा पाठ्य-विषयकी अधिक महत्ता है। साथ ही वे लोग शिक्षाके नियंत्रणात्मक विधानके भी बड़े विरोधी थे। किन्तु नियंत्रण तथा बालककी मूल योग्यताओंमें तथा मस्तिष्ककी साधारण शक्तियोंमें जो रूढ़िगत विश्वास चला आ रहा था उसका संस्कार इन वैज्ञानिकोंमें इतना प्रबल था कि इन्होंने भी वैज्ञानिक विषयोंका समर्थन करते हुए यही दिखाया है कि वैज्ञानिक विषयोंके द्वारा मानसिक शक्तियोंका विकास

हो सकता है और आत्मनियंत्रण तथा आचार—नियंत्रणकी भावनाएं दृढ़ की जा सकती हैं। इस वैज्ञानिक आंदोलनका प्रभाव यह हुआ कि क्रमशः जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड और अमेरिकामें विज्ञानको भी स्थान मिल गया।

यह वैज्ञानिक आंदोलन मनोवैज्ञानिक आंदोलनसे भी संबद्ध है क्योंकि इसमें भी नियमित आचरण और नियंत्रण-की भावना सन्निहित है। साथ ही विज्ञानके शिक्षणका प्रभाव अन्य विषयोंके शिक्षणपर इस प्रकार पड़ सकता है कि उनका अभ्यास भी अधिक रुचिपूर्ण और व्यवस्थित हो जाय। साथ ही इस वैज्ञानिक आंदोलनका संबंध समाज-वादी आन्दोलनके साथ भी गहरा था क्योंकि ये लोग भी बाहरी रूपके बदले पाठ्य विषयोंको प्रधानता देते थे, यांत्रिक और व्यावसायिक संस्थाओंको प्रोत्साहन देते थे और लोकतंत्रवादकी भावनाका प्रचार करते थे।

—:*****—:

शिक्षामें वर्तमान प्रवृत्तियाँ

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें शिक्षा-सुधार सम्बन्धी जो सुझाव उपस्थित किए गए हैं उनमें यह माँग की जा रही है कि हमारे पाठ्य-क्रममें व्यासायिक शिक्षा भी सम्मिलित की जाय। पुतली-घरोंकी अभिवृद्धिके साथ यह स्वाभाविक था कि वहाँ काम करनेके लिये अच्छे कुशल कारीगर सिखाए जायँ और उनके लिये यदि विद्यालयोंमें ही कुछ व्यवस्था हो जाय तो अल्प अवस्थामें ही विद्यार्थियोंकी जीविका भी लग जाय और देशके लिये भी व्यावसायिक शक्ति उत्पन्न की जा सके।

फ्रांको-प्रशन युद्धके पश्चात् जर्मनीने सब विद्यार्थियोंके लिये फ्रोर्ट बिल्डुंगशूलेन (क्रमिक विद्यालय) में शिक्षा पाना अनिवार्य कर दिया। इन विद्यालयोंमें अठारह वर्षकी अवस्था तक अनिवार्य रूपसे विद्यार्थियोंको शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। पहले तो इसके पाठ्य-क्रममें विद्यालयके पढ़े हुए पाठकी आवृत्तिमात्र थी, किन्तु जब प्रारम्भिक पाठशालाएँ खुलीं तब उनमें पूरा समय यांत्रिक शिक्षामें ही लगाया जाने लगा। उनमें केवल उच्च शिल्पियोंकी ही शिक्षा नहीं दी जाती थी प्रत्युत साधारण श्रेणीके कारीगर भी तैयार किए जाते थे, यहाँतक कि कन्याओंके लिये भी अनेक प्रकारकी व्यावसायिक

शिक्षाका प्रबन्ध किया गया जिसमें गार्हस्थ्य और मातृत्वकी शिक्षा भी सम्मिलित थी।

यह व्यावसायिक शिक्षा इतनी प्रचलित हुई कि शीघ्र ही जर्मनीके गेवेरवैसशूलेन (व्यापार-विद्यालय) या हांडवैंक शूलेन (शिल्प-विद्यालय) की देखा-देखी फ्रांस, इंग्लैंड और अमेरिकामें भी पूरे व्यावसायिक विद्यालय या अल्पकालीन व्यावसायिक विद्यालय खोले जाने लगे। इन व्यावसायिक विद्यालयोंका अन्तिम रूप यह था कि कृषिकी उन्नति की जाय और कृषिकी वैज्ञानिक शिक्षा देनेका विधान किया जाय। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उन्होंने प्रारम्भिक और माध्यमिक पाठशालाओंमें कृषि-शिक्षाकी व्यवस्था की और संयुक्त राज्य अमेरिकाने तो सन् १८६२ ई० में कृषि महाविद्यालय भी खोल दिया।

इस व्यावसायिक शिक्षाकी उन्नति देखकर नीतिवादी धार्मिक समुदाय चौकन्ना हो गया और शिक्षाशास्त्री भी यह समझने लगे कि यह वर्धमान भौतिकवाद कहीं हमें राक्षसत्व की ओर न प्रवृत्त कर दे, इसलिये उन्होंने नैतिक शिक्षाका आन्दोलन प्रारम्भ किया और तदनुसार अन्य व्यावसायिक तथा लौकिक शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाकी भी व्यवस्था की। इस युगकी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है—मन्दबुद्धि बालकोंकी शिक्षा। इस विषयमें सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकाके एडवर्ड सेग्विन (१८१२-१८८०) ने प्रयोग प्रारम्भ किया। सेग्विनने सन् १८३७ ई० में पैरिसमें जड़-बुद्धि

बालकोंके लिये एक व्यवस्थित तथा तर्क-संगत शिक्षा प्रणाली निकाली किन्तु कुछ राजनीतिक कारणोंसे उसे फ्रांस छोड़कर अमेरिका चला जाना पड़ा और १८५० में उसने अपना विद्यालय प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रणाली यह थी कि स्पर्श, स्वाद, गंध, आँख और कानको साधकर विभिन्न अंगों और इन्द्रियोंके द्वारा मस्तिष्कको प्रभावित किया जाय। इसलिये चित्र, कार्ड, विभिन्न ढंगके साँचे, मूर्तियाँ, मोम, मिट्टी, कैंची, कम्पास, और पेंसिल ही उसकी शिक्षाके मुख्य उपादान बने। उसकी प्रणालीका बड़ा अद्भुत परिणाम निकला और जड़-बुद्धि बालकोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें उसने जो प्रयोग किए उनसे इसका इतना प्रचार हुआ कि लोगोंको यह विश्वास हो चला कि अब कोई जड़-बुद्धि रह ही नहीं जायगा। किन्तु जितना कहा जाता था उतना परिणाम सम्भव भी नहीं था और हुआ भी नहीं, क्योंकि मंद-बुद्धिता संस्कारके कारण होती है, और वह जन्मजन्मातरसे पाया हुआ संस्कार तथा इस जन्मकी सञ्चित की हुई विकलांगता इतनी प्रभावशालिनी होती है कि उसके लिये जितने सम्भव उपाय किए जायँ उन सबसे वह मेधा प्राप्त नहीं कराई जा सकती जो स्वाभाविक रूपसे कुशाग्र-बुद्धिमें प्रस्फुरित होती है। प्रयोगसे भी यह देखा गया है कि मन्द-बुद्धि बालकको हम कुछ तो चेतन कर सकते हैं, किन्तु इतना नहीं कर सकते कि वह अन्य कुशाग्र-बुद्धि बालकोंके साथ प्रतिद्वन्द्वितामें खड़ा हो सके। यद्यपि बुद्धू, जड़, खूसट, और

मूर्ख बालकोंमें हम कोई विशेष भेद नहीं कर सकते किन्तु फिर भी उनकी विचार-शक्ति, निर्णय-शक्ति, एकाग्रता, तथा इच्छा-शक्तिके विचारसे उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। ये सब एक विशेष सीमा तक ही चेतन किए जा सकते हैं, उसके पार नहीं। इसके अतिरिक्त पागलों तथा अपराधियोंके लिये भी अनेक प्रकारके विद्यालय अमेरिकामें खोले जाने लगे, यहाँ तक कि गूँगों और बहरोंके लिये भी अत्यन्त व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली खोज निकाली गई है।

जौन ड्यूई

इन सब प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त उस धारामें कोई कमी नहीं आई जो शिक्षा-प्रणालीका सुधार करती चली आ रही थी, और जिस धाराके अन्तिम नियामक फ्रोबेलकी हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। आचार्य ड्यूई और कर्नल पार्करकी एकाग्रताकी योजनामें जो व्यावसायिक कार्य सन्निहित किया गया था उसका प्रभाव वर्तमानयुगके सब विद्यालयोंमें उतर पड़ा है। इन दोनों आचार्योंने फ्रोबिलीय प्रयोगोंको अत्यन्त समुन्नत किया और उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सहयोगकी भावनाका भी परिष्कार किया, साथ ही शिक्षाके सिद्धान्त और व्यवहारके रूपको भी उन्होंने जिस प्रकार व्यवस्थित किया वह पिछले सब युगोंकी सम्पूर्ण चेष्टाओंसे कहीं अधिक बढ़कर है। कर्नल पार्करने रिट्टर, हरबार्ट तथा फ्रोबेलकी विधियोंको मिलाकर और सुधारकर शिक्षाका नया रूप स्थिर किया, और आचार्य ड्यूईने अपने

विद्यालयके द्वारा इन प्रयोगोंकी परीक्षा की। जौन ड्यूई ने एक प्रयोगात्मक प्रारम्भिक विद्यालय स्थापित किया जिसमें तीन मौलिक शिक्षा-समस्याओंका समाधान खोजा गया था (१) विद्यालयको घर और पास-पड़ोसके जीवनके साथ किस प्रकार सम्बद्ध किया जाय और परस्पर सन्निकट लाया जाय, (२) इतिहास, विज्ञान, और कलाकी विषय-सामग्रीको किस प्रकार विद्यार्थियोंके सम्मुख उपस्थित किया जाय कि बालकोंके अपने जीवनमें उसका कोई स्थिर प्रभाव या वास्तविक महत्त्व सिद्ध हो, और (३) लिखने, पढ़ने, और चित्र खींचनेकी शिक्षा प्रतिदिनके अनुभव और व्यवहारके आधार पर इस ढंगसे कैसे दी जाय कि बालक स्वतः आकर्षक प्रतीत होनेवाले विषयोंके सम्बन्धके द्वारा उनकी आवश्यकता अनुभव करे। इस विद्यालयमें दुकानका काम, भोजन बनाना, सीना, बुनना, और बहुत-से ऐसे ही छोटे-मोटे व्यवसाय सिखाए जाने लगे और उनके सम्बन्धकी ऐतिहासिक शिक्षा भी दी जाने लगी। इस प्रणालीमें फ्रोबलकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति और सामाजिक सहयोगकी भावना तो थी किन्तु उसका बँधा हुआ नीरस रूप नहीं था।

मेरिया मौन्तेस्सौरी

मेरिया मौन्तेस्सौरीका जन्म सन् १२८० में इटलीमें हुआ। ये इटलीकी पहली महिला हैं जिन्होंने रोम विश्व-विद्यालयसे आयुर्वेदमें आचार्यत्व प्राप्त किया है। इनका जन्म ऐसे समयमें हुआ जब इटलीकी राजनीतिमें बड़े

उथल-पुथल हो रहे थे इसलिये बड़ी होनेपर इन्होंने भी इन आन्दोलनोंमें मनोयोगपूर्वक योग देना प्रारंभ किया क्योंकि इन्हें अपनी योग्यता और शक्तिमें पूर्ण विश्वास था।

सर्वप्रथम उन्हें ऐसे वालकोंकी चिकित्साका काम मिला जो मन्दबुद्धि या जड़बुद्धि थे। उनकी चिकित्साके लिये उसने सेग्विन प्रणालीका अध्ययन किया और इस निर्णयपर पहुंची कि इन वच्चोंको औषध देनेकी अपेक्षा किसी प्रकारसे शिक्षा देनी चाहिए। इन्होंने उन्माद-चिकित्सा, मनोविज्ञान तथा वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रका भी अध्ययन किया है और कुछ समयतक स्टेट-ऑर्थोफ्रेनिक स्कूलकी संचालिका रहकर इन्होंने मन्दबुद्धि बालकोंको शिक्षा देनेमें भी अद्भुत कौशल दिखलाया है। इससे इनका इतना उत्साह बढ़ा कि अपनी शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग साधारण वालकोंपर करना शुरू किया और इसीलिये सन् १९०७ में कुछ नए ढंगकी बनी हुई बस्तियोंसे संबद्ध 'वचपनके घरों' (हाउसेस ऑफ चाइल्डहुड) की शिक्षा-संचालिका बनीं। इस संस्थाके संचालनमें अपने शिक्षा-प्रयोगके वैज्ञानिक आधार-को इन्होंने और अधिक स्पष्ट किया। वे प्रत्येक विद्यार्थीकी कुल-परंपरा, पैतृक व्यवसाय, पोषण, बचपनकी बीमारी तथा शारीरिक जाँचका पूरा लेखा बीच-बीचमें तैयार करके पूरा विवरण बनाकर रखती रहीं। साथ ही प्रत्येक बालकके घरकी स्वच्छता, स्वाथ्य तथा आर्थिक स्थितिकी भी नियमित अवधिपर किसी कुशल विशेषज्ञ-द्वारा जाँच कराई

जाती थी। इतना सब होनेपर भी प्राणि-शास्त्रज्ञोंने यही निर्णय दिया है कि डॉ० मोंस्तेस्सौरीकी वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति अत्यन्त अपर्याप्त और अशुद्ध है। किन्तु वर्तमान विज्ञानका पूरा ज्ञान न होनेपर भी उनकी प्रणालीकी भावना वैज्ञानिक ही है।'

यह वैज्ञानिक भावना मौन्तेस्सौरी पद्धतिकी इस योजनासे भी सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक बालकको यथासंभव पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई तथा अध्यापकका काम केवल इतना ही रह गया कि वह बालकका गति-विधिका निरीक्षण करता रहे। वे कहती हैं—"विद्यालयकी काया-पलटके साथ अध्यापककी तैयारीकी भी कायापलट होनी चाहिए क्योंकि यदि हम अध्यापिकाको प्रयोगात्मक प्रणालियोंसे परिचित निरीक्षका बनाना चाहते हैं तो हमें ऐसी सुविधाएँ भी देनी चाहिएँ कि वह विद्यालयमें निरीक्षण भी करे और प्रयोग भी। किन्तु वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रकी मूलवृत्ति होनी चाहिए—'बालककी स्वाधीनता'। व्यवहारमें मौन्तेस्सौरीने इस सिद्धांतको फ्रोबेलवादियोंकी अपेक्षा अधिक पूर्णताके साथ व्यक्त किया है। अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट किए हुए तथा निश्चित और व्यवस्थित क्रममें बँधे हुए अभ्यास छात्रोंपर लादनेकी अपेक्षा उनका विचार है कि वास्तवमें शिक्षाका प्राप्य स्वरूप 'स्वतःशिक्षा' होना चाहिए। बालकोंको अपनी रुचिके अनुसार काम छाँटना चाहिए, अपनी रुचिके अनुसार स्वयं समाधान करना

चाहिए और उन्हें ऐसे अवसर देने चाहिए कि वे स्वतः मानसिक और नैतिक विकास कर सकें। बालकोंको केवल तभी रोका, टोका और समझाया जाय जब उनकी क्रिया सर्वसाधारणके हितमें बाधक हो, निरर्थक हो या संकटपूर्ण हो। व्यक्तिगत अभिव्यक्तिकी इस परिधिमें मौन्तेस्सौरीने फ्रौबेलके 'निर्दिष्ट नहीं प्रत्युत अनुसरण' की पद्धतिको अधिक तर्कसंगत रूपसे पूर्ण किया है, किन्तु ये फ्रोबेलके सामाजिक सहयोगकी क्रियाओंमें बालकको उस सीमातक भाग लेनेकी सुविधा नहीं देतीं क्योंकि इनकी सामग्री भी इतनी अधिक और विभिन्नतापूर्ण नहीं है। इसमें फ्रोबेलीय रचना तथा आविष्कारके लिये तनिक भी अवसर नहीं है और कल्पनाके विकासको तो निर्दयतापूर्वक रोक ही दिया जाता है। किंडेरगार्टेनके रोचक खेल, गीत और कथाओंका तो इसमें स्थान ही नहीं है। 'स्वतःशिक्षा' की भावना तो प्रशंसनीय है किन्तु मौन्तेस्सौरीके 'शिक्षा-यंत्र' (डाइडेक्टिक एपॅरैटस) इतने संकुचित हैं कि उनके द्वारा जीवनकी अनेक वास्तविक क्रियाएँ किस प्रकार पूर्णतः सिखाई जा सकेंगी इसमें संदेह है।

मौन्तेस्सौरीका पाठ्यक्रम और शिक्षायंत्र

मौन्तेस्सौरीके विद्यालयोंके पाठ्यक्रमको हम तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं (१) व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंसे संबद्ध, (२) ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी क्रियाओं-

से संबद्ध, तथा (३) प्रारंभिक पाठ्य-विषयोंके नियमोंसे संबद्ध। विद्यालयमें प्रवेश करनेके समय ही बालक व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंमें भाग लेने लगता है। साधारण शिष्टाचार 'विनय, चौकियाँ लगाने, भोजन परोसने,' थालियाँ धोनेके अतिरिक्त बच्चे बटन लगाने, फीता बाँधने, हुक लगाने तथा वेष-भूषाकी विभिन्न वस्तुओंको ठीकसे पहननेका अभ्यास एक निराले यन्त्र-द्वारा करते हैं। हलके लकड़ीके ढांचोंके दोनों ओर सूत या चमड़ेके वस्त्रोंके टुकड़े लगे रहते हैं जिन्हें बीचमें लाकर कसना पड़ता है। इनपर अभ्यास करके बालक अपने वस्त्र भी पहनना सीख जाता है और अपने पुट्ठोंको भी व्यायाम करा देता है।

ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेके लिये जो विधियाँ बतलाई गई हैं वे अत्यंत शंकास्पद हैं। वे सब नियमित आचरणपर ही अवलंबित जान पड़ती हैं और उनका उद्देश्य साधारण शक्ति और विवेककी शिक्षा ही है। डौ० मौन्तेस्सौरीका कहना है कि इन अभ्यासोंका यह उद्देश्य नहीं है कि बालकको रंगों, आकारों और वस्तुओंके विभिन्न गुणोंका ज्ञान हो प्रत्युत इन वस्तुओंसे वह एकाग्रता, तुलना तथा स्वयं-निर्णयके अभ्यासके द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियोंका सुधार कर ले, क्योंकि ये सब अभ्यास शुद्ध रूपसे बौद्धिक अभ्यास हैं। ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षाके 'शिक्षायंत्र'की प्रकृति देखनेसे यह सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। बालककी स्पर्श-

भावनाको साधनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रियोंपर उसकी उँगली फिराई जाती है, उन वस्तुओंकी प्रकृति खुरदरी या चिकनी बताई जाती है और फिर इस विवरणके द्वारा बालकसे चिकनी और खुरदरी वस्तुएँ छँटवाई जाती हैं। इसी प्रकार शीत, उष्ण, श्वेत, काला, ठोस, पोला, तथा रंग आदिका अभ्यास कराकर देखने, सुनने, सूँघने आदि विभिन्न भावोंका ज्ञान करा दिया जाता है। इस प्रकारके अभ्यास मन्दबुद्धि और जड़ बालकोंके लिये तो ठीक हैं किन्तु साधारण बालकके लिये तो निरर्थक समयकी हत्या है क्योंकि इन शिक्षा-सामग्रियोंके अतिरिक्त सैकड़ों घर-बाहरकी वस्तुओंको देखकर उसकी भावना और इन्द्रियाँ सध चुकती हैं।

मौन्तेस्सौरी–प्रणालीका जो अंश अधिक सफल और आकर्षक समझा जाता है वह है पाठ्यक्रमके अभ्यासके संबंधमें, विशेषतः यह देखकर कि बालक कितनी सरलता और उत्साहके साथ सुंदर अक्षरोंमें लिखना सीख जाता है। मौन्तेस्सौरीका कहना है कि यह प्रदर्शनात्मक क्रिया तो इंद्रिय–विकासकी शृंखलाकी एक कड़ी मात्र है। छोटे-बड़े, ठोस-पोले, मोटे-पतले आदि जितने रूप–आकार दिखाई पड़ते हैं वे सब लेखनमें सहयोग देते हैं। किन्तु मौन्तेस्सौरीने तीन अभ्यास ऐसे भी निकाले हैं जिनके द्वारा लेखनका स्वतः विकास होता है। (१) बालकने कागजपर जो एक रेखागणितका आकार खींचा है, उसकी

रूपरेखाको भरवानेका अभ्यास करके बालकको लेखन-सामग्री पकड़ने और उसका प्रयोग करनेकी आंगिक चेष्टाओंका विकास किया जाता है। इस कार्यमें बालक अक्षरोंके दृश्यमान रूपको समझनेके अभ्यास भी गत्तोंपर चिपके हुए बलुए कागजके कटे हुए अक्षरोंपर उँगली फेरकर अभ्यास कर लेता है। पहले अध्यापक अक्षर लिखनेके क्रमसे उसपर उँगली फेरकर उसकी ध्वनिका उच्चारण करते हुए उँगली फेरता है (अक्षरका नाम नहीं उच्चारण करता जैसे के न कहकर क कहता है। पर यह झगड़ा विदेशी अक्षरोंमें है। देवनागरीमें तो ध्वनि और नाम दोनों एक ही होते हैं।) इस प्रकार उंगलीको साधकर बालकोंकी स्मृति साधनेके लिये उनसे कहता है—मुझे 'क' दो, 'ओ' दो आदि, या कोई अक्षर दिखाकर पूछता है कि यह क्या है? अथवा यह कौनसा अक्षर है? अंतमें छापेघरोंके अक्षर-जुड़इयोंके अक्षर-डब्बोंसे मिलते-जुलते डब्बोंके विभिन्न घरोंमेंसे गत्तोंके अक्षर जोड़कर शब्द बनाते हैं। यद्यपि बालकने अभीतक लिखा नहीं है किन्तु लिखनेकी जितनी क्रियाएँ हैं उन सबपर अधिकार प्राप्त कर लिया है।" यही उस "लेखनके विस्फोट" का रहस्य है जिसकी शिक्षाके क्षेत्रमें बड़ी चर्चा है। इस प्रणाली-द्वारा लेखन-कला इतने अचेतन रूपसे बालक सीख लेते हैं कि वे लिखनेकी क्रियाका भान किए बिना ही लिखने लगते हैं। यह पद्धति मौन्तेस्सौरी प्रणालीकी सबसे बड़ी सफलता समझी

जाती है।

वाचन तथा गणितके संबंधमें मौन्तेस्सौरी पद्धति इतनी सफल नहीं हुई। वाचनका क्रम लेखनके पीछे आता है। श्यामपट या कागजोंपर लिखे हुए परिचित वस्तुओंके नामोंका वाचन करके इसका प्रारंभ होता है। पहले बालकको लिखा हुआ शब्द दिखा दिया जाता है। यदि वह उसकी ध्वनियाँ ठीकसे बोलने लगता है तो अध्यापक अत्यंत वेगसे उस पूर्ण शब्दकी कई आवृत्तियाँ करवाता है। इससे बालककी बुद्धिमें शब्दका एक रूप स्थिर हो जाता है और शब्दमें आई हुई विभिन्न ध्वनियोंका क्रम लुप्त होकर शब्दकी ही एक ध्वनि स्थिर हो जाती है। जब सब शब्द सध जाते हैं तब छोटे वाक्यांश और वाक्योंका अभ्यास कराया जाता है। इसमें कोई नवीनता नहीं और अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि बीहड़, अवैज्ञानिक और असंयत अक्षर-प्रतीकोंवाली भाषाएँ तो इस प्रणालीसे सिखाई ही नहीं जा सकतीं।

इसी प्रकार गणित सिखानेके लिये मौन्तेस्सौरीने जो सिद्धांत स्थिर किए हैं वे पैस्तालौजीकी इकाईकी सरणि तथा अन्य विधियोंसे भिन्न नहीं है। विशेषता इतनी ही है कि इन्होंने विभिन्न लंबाईके छोटे-छोटे डंडे बनाए हैं जिनके कई भाग करके उन्हें लाल और नीला रंग दिया है। जब बालक भागोंको गिनना सीख जाता है तब अध्यापक भी एक डंडा लेकर उससे बड़े या छोटे डंडे छात्रोंसे

निकलवाता है या छात्रोंसे कहकर सब डंडे इस प्रकार निकलवाता है कि वे सबसे बड़े डंडेके बराबर हो जायँ। और भी इस प्रकारके कुछ अभ्यास कराए जाते हैं कि प्रारंभिक गणितपर बालकका कुछ अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मौन्तेस्सौरी-विद्यालयकी झाँकी

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंकी बड़ी भारी विशेषता है वहाँका विनय। तीन वर्षसे सातवर्ष तकके लगभग चालीस बच्चे अपने-अपने काममें जुटे हुए दिखाई देते हैं। कोई आंगिक अभ्यासमें जुटा है, कोई गणितका अभ्यास कर रहा है, कोई रेखाचित्र खींच रहा है तो कोई चौकी पोंछ रहा है। कुछ बच्चे नीचे आसनोंपर बैठे हैं और कुछ पीठासनों पर, किन्तु कोई बातचीत नहीं, कोई हल्ला नहीं, सब अपने अपने काममें लीन। वे इधर-उधर चलते भी हैं और वस्तुएँ भी इधर-उधर हटाते हैं किन्तु तनिक भी आहट नहीं होती। कभी-कभी बीचमें कोई स्वर सुनाई पड़ता है तो यही है गुरूजी! गुरूजी!! देखिए मैंने क्या बनाया है। बालकोंके इस उल्लासभरे स्वरके अतिरिक्त और किसी प्रकारका कोलाहल नहीं होता। अन्य विद्यालयोंमें डाँट-फटकार तथा दण्डका डर दिखाकर छात्रोंको चुप कराया जाता है किन्तु मौन्तेस्सौरीके विद्यालयोंमें बालक स्वयं आत्मसंयम, एकाग्रता और शान्ति सीख लेता है क्योंकि उसे इस प्रकार अभ्यास

कराया जाता है कि वह स्वतंत्र रहनेपर भी शिष्टाचार और विनयकी रक्षा करता है। इस प्रकारके विनय पूर्ण वातावरणमें छात्रोंमें परस्पर सहानुभूति भ्रातृस्नेह तथा नम्रताका भाव उत्पन्न होता है। शांति होनेके कारण सबके अभ्यास साव-धानी और एकाग्रतासे होते हैं। मौन्तेस्सौरी प्रणालीका यह अभ्यास निश्चित रूपसे अनुकरणीय और प्रशंसनीय है।

इन पाठशालाओंकी एक यह भी विशेषता है कि यहाँ न तो पुरस्कार ही दिया जाता है न दण्ड, क्योंकि पुरस्कारकी आवश्यकता वहीं होती है जहाँ बालक इच्छा न रहते हुए भी काम करते हैं। दूसरी बात यह है कि पुरस्कार पाकर बालकको जो आनंद मिलता है वह उन्हें शिक्षायंत्रोंके साथ स्वतः प्राप्त हो जाता है। पुरस्कारसे यह भी हानि होती है कि विद्यार्थियोंमें स्पर्धाकी भावना बिगड़ते-बिगड़ते ईर्ष्या और द्वेषतक पहुँच जाती है, यहाँ तक कि जो बालक पीछे रह जाते हैं वे अपनेको निरर्थक और निकम्मा समझने लगते हैं। उनके मनमें आत्महीनताकी भावना समा जाती है और वे सदाके लिए दब्बू बन जाते हैं। इसी प्रकार दण्डसे भी बालकोंके स्वाभाविक विकासमें बाधा पड़ जाती है और डरनेकी भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि किसी भी काममें वे स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं हमारे कार्यसे हमारे गुरु अप्रसन्न न हों। मौन्तेस्सौरी पद्धतिमें बालकके व्यक्तित्वको ही प्रधानता दी गई है, इसलिये पुरस्कार या दण्ड देने या

न देनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मौन्तेस्सौरी प्रणालीके मूल सिद्धांत

यद्यपि मौन्तेस्सौरीने कहीं भी अपने सिद्धांतोंकी विवेचना नहीं की परंतु उसकी प्रणालीके सिद्धांतोंका निरूपण करके हम उसके सिद्धांत अवश्य जान सकते हैं—

(१) स्वतंत्रता, स्वतः प्रवृत्ति और स्वेच्छा। मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें न बँधे नियम हैं न कोई बँधी हुई कार्यसरणि है, न किसी विषय या कार्यको निश्चित समयमें समाप्त करनेका बंधन है, न पुरस्कारका प्रलोभन है, न दण्डका भय है और न विनयके लिए कोई कठोर या बँधे हुए नियम हैं, अर्थात् विनय और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रोंमें बालकोंको पूरी छूट है। किन्तु इतना सब होते हुए भी पाठशालाओंमें पूर्ण शांति, उत्साह, आनंद और स्फूर्तिका वातावरण छाया रहता है। बालक अपनी इच्छासे उठता, बैठता, खेलता तथा काम करता है, उसे दूसरोंके उपदेश या आदेशकी आवश्यकता नहीं रहती। उसके कार्योंमें न तो अध्यापक हस्तक्षेप ही करता है न किसी कार्यके लिये आदेश ही देता है। इन विद्यालयोंमें वही स्वतंत्रता दिखलाई देती है जो रूसो अपने प्रकृतिवादमें चाहता था और जिसकी आशा कुमारी हेलन पार्खर्स्टने अपनी डाल्टन योजनामें प्रकट की है। बालक अपनी इच्छासे स्वतंत्रतापूर्वक स्वतः प्रवृत्तिसे अपना-अपना काम करते रहते हैं।

(२) इस प्रणालीका दूसरा सिद्धान्त है व्यक्तित्वका आदर अर्थात् प्रत्येक छात्रके व्यक्तित्वको इतनी प्रधानता देदी जाय कि किसी भी प्रकार किसी छात्रके प्रति ऐसा कोई व्यवहार न किया जाय जिससे उसके मन या हृदयपर आघात पहुँचे। उसके प्रत्येक कार्यके प्रति वैसा ही आदर प्रकट किया जाय जैसा किसी सयानेके कामके प्रति।

(३) तीसरा सिद्धान्त है स्वयंशिक्षा, अर्थात् बालक स्वयं अपनी गति और प्रवृत्तिसे नया ज्ञान पैदा करे और नई बातें सीखता चले। अध्यापक न तो उसे शिक्षा दे न उपदेश करे, वह केवल पथ-प्रदर्शन करे। इस प्रकारकी स्वतःशिक्षाके द्वारा आत्मविश्वास भी बढ़ता है और आत्मनिर्भयताका भी अभ्यास हो जाता है जो जीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है।

(४) चौथा सिद्धांत है आंगिक शिक्षा अर्थात् विभिन्न शिक्षा-यंत्रोंके द्वारा शरीरके विभिन्न अग और पुट्ठोंको इस प्रकार साध लिया जाय कि उन्हें आगे ज्ञान प्राप्त करनेके समय नए सिरेसे अभ्यास न करना पड़े। देखने, सुनने, स्पर्श करने आदिके अभ्यासोंके द्वारा जो बौद्धिक विकास होता है उसे सभी मनोवैज्ञानिकोंने स्वीकार किया है।

मोन्तेस्सोरी प्रणालीका विवेचन

मौन्तेस्सोरीने अपनी शिक्षा-प्रणालीको वैज्ञानिक बताया है किन्तु उन्होंने न तो कोई ऐसे प्रमाण दिए हैं और न विवरण

दिए हैं जिनके आधारपर दूसरे लोग भी उसकी वैज्ञानिकताका परीक्षण कर सकें। कथा सुनने, नाटक या संवाद सुनने तथा कलात्मक भावनाके विकासके लिये इसमें कोई स्थान नहीं, न काव्य है, न मनोरंजक खेल। मौन्तेस्सौरीने जो शिक्षा-यंत्र तैयार किए हैं वे इतने मँहगे हैं कि भारतके बच्चोंको यदि मौन्तेस्सौरी प्रणालीसे अनिवार्य शिक्षा दी जाय तो भारत सरकारकी वर्त्तमान वार्षिक आय दुगनी हो जाने पर भी पूरी न पड़ेगी। यह केवल धनियोंके चोचलेके लिये ही ठीक है। यद्यपि मौन्तेस्सौरीने बालककी स्वतंत्रताको अधिक महत्त्व दिया है किन्तु फिर भी उसे यंत्रोंके फेरमें ऐसा बाँध रक्खा है कि अध्यापकका व्यक्तित्व अत्यन्त लुप्त हो जाता है। इससे बालककी मानसिक तुष्टि भले ही हो किन्तु उसकी उदात्त वृत्तियोंका विकास नहीं होता, और शिक्षक तथा शिक्षा दोनोंमें कोई उत्साह नहीं रह जाता, पाठशालाका काम केवल मूक यंत्रकी भाँति चलता है। इस प्रणालीमें समय भी बहुत नष्ट होता है। जो ज्ञान बालकको अन्य सरल उपायोंसे एक मासमें आ सकता है वह इस प्रणालीसे एक वर्षमें प्राप्त होता है। मौन्तेस्सौरीका यही हठ है कि मेरे ही यंत्रोंका प्रयोग किया जाय तभी मौन्तेस्सौरी प्रणाली हो सकती है अन्यथा नहीं। इसमें वे किसी प्रकारका सुधार या सुझाव माननेको तैयार नहीं है। यों तो हठवादिता कहीं भी ठीक नहीं होती किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें तो यह प्रवृत्ति अत्यंत अनुचित और अवांछनीय है। सारांश यह

है कि मौन्तेस्सौरी प्रणालीमें केवल विनयकी भावना ऐसी है जिसे आधुनिक विद्यालयोंका अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मौन्तेस्सौरी प्रणाली एक विराट विडंबना है जो शिक्षाके लिये अव्यावहारिक और निरर्थक है।

प्रयोग-प्रणाली

ड्यूईने सन् १८९६ में जो प्रयोगशाला विद्यालय खोला था उसकी पाठ्यप्रणाली ही प्रयोग-प्रणाली कहलाई जाती है। प्रारंभम प्रोजेक्ट (प्रयोग) शब्दका व्यवहार संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके कृषिविभागने स्वीकार किया था। उसके अनुसार सहयोगपूर्ण कार्य करनेकी योजनाकी रूप-रेखाको ही प्रयोग कहते हैं। इसके पश्चात् यह शब्द विज्ञान तथा श्रमिक कर्योंमें ही प्रयुक्त किया जाने लगा। शिक्षाके क्षेत्रमें जब यह शब्द पहुँचा तब इसकी व्याख्या इस प्रकारकी गई— "प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।"

इस परिभाषाकी व्याख्या करनेके पूर्व इसकी आवश्यकताके कारणको समझाना आवश्यक होगा। हमारे विद्यालयोंमें जितनी शिक्षा दी जाती है वह कोरी सूचनात्मक या अभ्यासात्मक होती है, जिसमें वास्तविकताका तनिक भी अंश नहीं रहता। गणितमें तो ऐसे-ऐसे बेढंगे, ऊटपटाँग और अव्यावहारिक प्रश्न होते हैं जिनका जीवनसे कुछ संबंध नहीं है, जो केवल अभ्यास मात्रके लिये कराए जाते हैं।

इसी प्रकार अन्य विषयोंकी शिक्षा भी मौखिक सूचनात्मक होती है जिसे विद्यार्थी केवल मूढ़ अकर्मण्य श्रोताकी भाँति सुनते हैं, सुनकर उसे ज्योंका त्यों मान लेते हैं और न जाने उसका कितना अधिक अंश तो बालककी असावधानता और कहनेवाले की नीरसताके कारण नष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें किसी ऐसे शिक्षा-विधानकी आवश्यकता थी जिसमें बालक स्वयं सक्रिय रूपसे सावधानीके साथ नया ज्ञान आत्मसात् करता चले और उस प्राप्त किए हुए ज्ञानकी सत्यताका परीक्षण भी करता चले। इसीलिये यह नई प्रणाली काममें लाई गई जिसमें विद्यार्थियोंको ऐसे समस्यात्मक कार्य दिए जाते हैं जिन्हें वे वास्तविक परिस्थितिमें संपन्न कर सकें। प्रयोग प्रणालीवालोंका कहना है कि केवल सूचनात्मक ज्ञान देनेके बदले ऐसी समस्याएँ छात्रोंके सम्मुख रक्खी जायँ जिनपर वे स्वयं तर्कपूर्ण विचार कर सकें और निर्णय दें। दूसरी बात यह है कि सुनेहुए या पढ़ेहुए ज्ञानको स्मरण मात्र करनेके बदले छात्र उसे व्यवहारमें भी ला सकें। तीसरी बात यह है कि कक्षाके नीरस और अस्वाभाविक वातावरणके बदले प्रत्यक्ष तथा सक्रिय प्रयोगके द्वारा ज्ञान आत्मसात् कर सकें और नीरस सिद्धातोंकी अपेक्षा समस्याओंका समाधान कर सकें। इसीलिये इसमें तीन बातें रक्खी गई हैं।

(१) ऐसा कार्य दिया जाय जिसमें किसी समस्याका समाधान करना हो अर्थात् जिसमें बुद्धि, विचारशक्ति और तर्क-शक्तिका

प्रयोग करना पड़े क्योंकि साधारण कार्य तो बहुतसे ऐसे हो सकते हैं जिनमें विचार या तर्ककी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि किसीसे कहा जाय 'घड़ेमेंसे पानी लाकर दो' तो यह साधारण कार्य है, समस्यात्मक नहीं। किन्तु इसके बदले यदि यह कहा जाय कि दस मिनटके भीतर दस गिलास नीबूका शर्बत ले आओ तो यह छोटा-मोटा समस्यात्मक कार्य बन सकता है क्योंकि इसमें कार्य करनेवालेको यह विचार करना पड़ेगा दस मिनटकी अवधिमें किस उपायसे किस समीपतम स्थानसे नीबू मँगवाए जायँ, किसे भेजा जाय, चीनीका प्रबन्ध कहाँसे हो और कहाँसे ऐसे गिलास लाए जायँ जो एक आकार-प्रकारके हों। साथ ही उसे यह भी विचार करना पड़ेगा कि इसमें कितना व्यय होगा। अतः यह कार्य समस्यात्मक कार्य है। इसी प्रकारके और भी अनेक समस्यात्मक कार्य हो सकते हैं।

(२) दूसरी बात यह है कि जो कार्य दिया जाय वह पूरा होना चाहिए। गणितके समान केवल लेखा लगाकर आँकड़े दे देनेसे काम नहीं चलेगा वरन् उस कामको पूरा ही करना पड़ेगा तभी उस कार्यके विभिन्न क्रमों, गतियों, विधियों और परिणामोंका ऐसा निश्चित ज्ञान होगा कि आगे उस कार्यकी आवृत्तिके समय उसे सुविधा होगी और उस कार्यके संबंधमें जितना ज्ञान होगा वह पूर्णतः आ जायगा।

(३) तीसरी बात है वास्तविक स्थिति, अर्थात् जो कार्य किया जाय वह केवल विद्यालयके अभ्यास मात्रके लिये ही न

हो वरन् ऐसी परिस्थितिमें कराया जाय जब उसका प्रयोजन हो और बालक निश्चित रूपसे समझ ले कि हम कोई वास्तविक कार्य कर रहे हैं, जैसे यदि किसी कक्षाको हम निमंत्रणपत्र लिखना सिखाते हों तो वह ऐसे अवसरपर लिखाना चाहिए जब विद्यालयमें कोई उत्सव होता हो और फिर विद्यार्थियोंसे पत्र लिखवाकर वस्तुतः निमंत्रितोंके पास भेज दिए जायँ। इसीको वास्तविक स्थिति कहते हैं।

ये प्रयोग या कार्य दो प्रकारके हो सकते हैं (१) सरल और (२) बहुमुखी। सरल प्रयोगमें केवल एक ही काम होता है। खेतका बाड़ा बाँधना या किवाड़में कुन्दा ठोकना, झूला डालना, पत्तल बनाना, खाना परोसना, ये सब सरल प्रयोग हैं। किन्तु दसव्यक्तियोंके लिये भोजन बनाना, किसी सह भोजका प्रबन्ध करना, छात्रोंके पर्यटनकी व्यवस्था करना, अपनी कक्षाकी दीवारपर कागज साटना तथा नाटक करना बहुमुखी प्रयोग हैं। शिक्षाकी दृष्टिसे विद्यालयके उत्सवका प्रबन्ध करना या नाटक करना बहुत अच्छे प्रयोग हैं क्योंकि इनमें निमंत्रण-पत्र, सजावट, स्वागत आदि की व्यवस्था करनेसे भाषा तथा कलाका ज्ञान होता है और नाटकके द्वारा तो इतिहास, भूगोल, भाषा, साहित्य, चित्र, संगीत, अभिनय आदि सभी विज्ञानों और कलाओंका ज्ञान हो जाता है।

प्रयोग-प्रणालीके सिद्धान्त

प्रयोग-प्रणालीमें वर्तमान कालतकके शिक्षा शास्त्रियोंके

पशुओंकी भाँति छात्र भी कक्षारूपी बाड़ोंमें बन्द कर दिए जाते थे। जो कुछ अध्यापकगण बतलाते थे उसे वे घोट लेते थे और तनिक सा भी इधर-उधर करनेपर बेतोंसे धुन दिए जाते थे। प्रायः विद्यालयकी कक्षाएँ भी धुँधली, अन्धेरी, सकरी और वायुशून्य होती थी। विद्यार्थियोंके मुँहपर ताले लगे हुए थे, मेधावी बालकको तीव्र गतिसे आगे बढ़नेका अवसर नहीं था और मंदमति बालकको अपनी मंद गतिसे चलनेकी सुविधा नहीं थी। यद्यपि रूसो, पैस्तालौजी और हरबार्ट जैसे शिक्षा-शास्त्रियोंने बालकके स्वंतत्र शिक्षा-विकास पर बहुत कुछ लिखा और कहा था किन्तु फिर भी अधिकांश विद्यालयोंमें दण्डवादी, प्राचीन-पंथियोंका साम्राज्य था। इन सब बातोंसे संपूर्ण शिक्षा-क्रम नितांत नीरस और रोचकता-शून्य हो गया था, विद्यालयका नाम सुनते ही बालक थर्रा उठते थे, रोने लगते थे और इसीलिये दो विद्यार्थी उसके हाथ, पैर पकड़कर विद्यालयमें पहुंचाते थे। कुमारी हेलन पार्खर्स्ट-के कोमलनारी हृदयको इस कठोर और नीरस वातावरण-से अत्यन्त क्षोभ हुआ इसीलिये उसने अपनी डाल्टन-योजना स्थापित की। वे चाहतीं तो इस योजनाके साथ मेरिया मौन्तेस्सौरीके समान अपना नाम भी जोड़ देतीं किन्तु यह उन्होंने उचित नहीं समझा। क्योंकि उनका विश्वास है कि किसी शिक्षा-प्रणालीको अपने नामसे जोड़ना और उसे बाँध देना ठीक नहीं है। उनकी यही इच्छा रही है कि इस योजना

को विशेष नियमों और बंधनोंसे न जकड़ दिया जाय और इसीलिये विभिन्न देशों और स्थानोंके लिये बड़ी छूट दे दी है।

सन् १९१५ से १८ तक पार्खर्स्टने केलिफोर्नियामें मौन्तेस्सौरी प्रणालीका प्रयोग किया और इसीलिये कुछ लोग इस प्रणालीको मौन्तेस्सौरीकी उपज मानते हैं किन्तु वास्तविक बात यह है कि विद्यार्थीको विद्यालयोंके नीरस वातावरणसे मुक्त करनेकी भावनासे ही डाल्टन योजनाका जन्म हुआ था।

डाल्टन प्रयोगशाला योजना—

(१) विभिन्न विषयोंके घंटों और समय-सरणिके कठोर बंधनोंको नष्ट करके बच्चेको स्वतंत्रतापूर्वक काम करनेकी स्वतंत्रता दी जाय।

(२) जिस विषयमें बालककी रुचि हो उस विषयको जितनी देरतक वह चाहे अध्ययन करता रहे।

इस प्रकार यह डाल्टन योजना कोई नई शिक्षाप्रणाली नहीं है वरन् एक नई प्रकारकी विद्यालय-व्यवस्था है। इसमें विषय वे ही पढ़ाए जाते हैं जो अन्य विद्यालयोंमें, किन्तु परिणाम और प्रकार भिन्न होता है।

कार्य-पद्धति—

समूचा पाठ्यक्रम सुविधाजनक मासिक कार्यक्रम (एसाइनमेन्ट) के रूपमें बाँट लिया जाता है जिसमें छुट्टियोंके लिये, पढ़े हुए पाठकी आवृत्तिके लिये, और विद्यार्थियोंके

स्वतः अभ्यासके लिये समय छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक पाठ्य विषयको एक वर्षके दस मासिक कार्यक्रमोंमें बाँट लिया जाता है और यह आशा की जाती है कि विद्यार्थी इस कार्यको ठेके (कौन्ट्रेक्ट) के रूपमें ग्रहण करेंगे और एक महीनेके लिये दिया हुआ निश्चित कार्यक्रम निश्चित समयमें पूरा करेंगे। इसमें स्वतंत्रता यही है कि विद्यार्थी एक मासमें पूरा किए जानेवाले कार्यको अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस क्रमसे और चाहे जिस गतिसे पूरा कर सकते हैं। वे चाहें तो एक महीनेके लिये दिए गए कामको दस दिनमें पूरा कर सकते हैं किन्तु वे अगले महीनेके कार्यक्रमका ठेका नहीं लेते, शेष बचेहुए समयमें मनचाही पुस्तकका अध्ययन कर सकते हैं। जब छात्र मासिक कार्यका ठेका लेते हैं तो वे यह भी वचन देते हैं कि इस कार्यको पूरा करनेके लिये न हम किसीको सहायता देंगे न हम किसीसे सहायता लेंगे। छात्रोंको छूट रहती है कि वे अपने गुरु या अपने सहपाठियोंसे सम्मत्ति लें। किन्तु कार्य उन्हें स्वतः ही पूरा करना पड़ता है।

इस योजनामें कक्षाएँ लुप्त हो जाती हैं और प्रत्येक कक्षा प्रयोगशाला बन जाती है। इन विभिन्न प्रयोगशालाओंमें उन-उन विषयोंकी सब सामग्री—पुस्तक, चित्र, रेखाचित्र, प्रतिमूर्ति, यंत्र आदि—उपस्थित रहती है। विभिन्न श्रेणियोंके विद्यार्थी जो उस विषयका कार्य पूरा करना चाहते हैं वे वहाँ बैठकर सामग्रीका उपयोग करके अपना कार्य पूरा कर

सकते हैं। इस प्रकार विद्यालयमें पहली, दूसरी, तीसरी कक्षा न होकर हिन्दीकी प्रयोगशाला, गणितकी प्रयोगशाला, इतिहासकी प्रयोगशाला तथा भूगोल, विज्ञान, संगीत, चित्र, कला आदि विषयोंकी प्रयोगशालाएँ बन जाती हैं। इसीलिये वहाँ न घंटे लगते हैं न कोई बंधी हुई समय-सरणि है।

अध्यापक

इस योजनाके अंतर्गत अध्यापकोंका काम यह है कि वे अपनी-अपनी प्रयोगशालामें जाकर आसन लगाकर वर्ष भरके लिये मासिक कार्यक्रम तैयार कर दे, जो विद्यार्थी कुछ पूछने आवे उसे उचित परामर्श या निर्देश दे, यह देखे कि छात्र एक दूसरेकी प्रतिलिपि तो नहीं करते, समय तो नष्ट नहीं करते या प्रयोगशालाकी किसी वस्तुका दुरुपयोग तो नहीं करते। मासिक कार्यक्रम बनाते समय विभिन्न विषयोंके अध्यापकोंको परस्पर मिलकर इस प्रकार कार्य देना चाहिए कि छात्रोंका परिश्रम भी कम हो और व्यर्थ आवृत्ति न हो। जैसे यदि इतिहासका अध्यापक शिवाजीपर लेख लिखाना चाहता है तो वह इस कामको भाषा शिक्षकके कार्यक्रममें डाल सकता है जिसका ऐतिहासिक अंश इतिहासका अध्यापक देख लेता है और भाषाका अंश भाषाका अध्यापक देख लेता है और छात्र भी दो निबंध लिखनेकी कठिनाईसे बच जाता है। अध्यापकको कोई अधिकार नहीं है कि वह विद्यार्थीके काममें बाधा दे। यह छात्रका ही

अधिकार है कि वह आवश्कता पड़नेपर अध्यापकसे सम्मति और परामर्श ले। छात्रोंको ठेकेका कार्य (कोन्ट्रेक्ट एसा- ईनमेंट) देते हुए निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है:—

(१) प्रस्तावना

थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके कार्यका कुछ थोड़ासा परिचय दे देते हैं।

(२) विषयांग

भाषाके किसी अँग (रचना, व्याकरण, कविता आदि) के लिये जो कार्य दिया जाता है इसका उल्लेख होता है।

(३) समस्याएँ

इसके अतर्गत बहुतसी बाते हैं, जैसे शब्द तालिका बनाना, मानचित्र बनाना आदि। अधिकतर भाषाके पाठ में समस्याएँ कम होती है।

(४) लिखित कार्य

जो कुछ लिखवाना होता है उसकी पूरी सूची होती है और जिस तिथिको लेख लेना होता है उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख होता है।

(५) कंठस्थ करनेके योग्य कार्य

उन कविताओं या अनुच्छेदोंका उल्लेख होता है जो कण्ठस्थ कराने होते हैं।

(६) बैठक

उन तिथियोंका उल्लेख होता है जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठकर प्रत्येक विषयपर बातचीत करनी होती है।

(७) सहायक पुस्तकें

उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नाम दिए जाते हैं जिनकी सहायता लेनेका आदेश दिया जाता है। साथ ही अध्यायों तथा पृष्ठोंका उल्लेख कर दिया जाता है जिसमें बालकको अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) गति-प्रदर्शग

बालकोंको यह बतलाया जाता है कि वे अपनी उन्नति-का लेखा किस प्रकार बनाएँ।

(९) सूचनापट्टका अध्ययन

जब कभी प्रयाग-शालाके सूचना-पट्टपर कोई चित्र, मान-चित्र, अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँग दिए जायँ तो उसका भी उल्लेखन कर दिया जाता है।

(१०) विभागीय छूट

कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग होता है। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजी-

पर एक लेख लिखनेको दिया है और वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया तो भाषाका अध्यापक अपने दिए हुए लेखन कार्यमें से उतनी कमी कर देता है और उसका उल्लेख कर देता है। इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य अलग अलग बनाकर दे दिया जाता है।

दैनिक कार्यक्रम

विद्यालयका समय पौने नौ बजे प्रातःकालसे तीसरे पहर चार बजे तकका होता है। इसमें एक और दो बजेके बीच छुट्टी होती है। सब विद्यार्थियोंका एक एक दल एक-एक अध्यापकके अधीन रहता है और वह प्रातःकाल अपने अध्यापकसे मिलता है। अध्यापक भी कक्षाको दिए हुए कार्यपर बातचीत करता है और व्यक्तिगत रूपसे जिन्हें सहायताकी इच्छा होती है उन्हें सहायता देता है। पौने नौसे बारह बजेतक छात्र अपने स्वतंत्र इच्छानुसार कार्य करता है। बारहसे एक बजे तक प्रतिदिन सम्मेलन होता है जिसमें कक्षाएँ अपने गुरुओंसे मिलती हैं। इन सम्मेलनों (कान्फरेन्सों) में अध्यापक वे सब बातें बताता है जो छात्रकी समझ, शक्ति और अनुभूतिसे परे हो, साथ ही छात्रोंके साथ विभिन्न विषयोंपर शास्त्रार्थ या वादविवाद करता है। तीसरे पहर का समय कला, हस्त-कौशल, खेल-कूद तथा व्यायाम आदिके लिये छोड़ दिया जाता है।

विद्यार्थीकी गति जानते रहनेके लिये चोखाने (ग्राफ)

के रूपमें सब विद्यार्थियोंकी उन्नतिका लेखा रक्खा जाता है। ये लेखे साप्ताहिक और मासिक दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों लेखे छात्रके पास रहते हैं जिनमें वह काम पूरा करके अध्यापकसे अपने किए हुए कामका गतिचिह्न बनवा लेता है। इसके अतिरिक्त विद्यालयमें प्रत्येक बालककी उपस्थितिका लेखा भी रक्खा जाता है।

योजनाकी विशेषता और गुण

(१) प्रत्येक बालकको एक दिनके कामके बदले महीने भरका काम दिया जाता है जो उसे प्रतिदिन करना पड़ता है।

(२) अपनी इच्छा और सुविधाके अनुसार काम करनेकी छूट होती है जिससे विद्यार्थीमें उत्तरदायित्व और आत्म-निर्भरताकी भावना बढ़ती है।

(३) प्रत्येक छात्र अपनी गति और रुचिके अनुसार काम करता है।

(४) आत्मशिक्षा और व्यक्तिगत कार्य दोनोंका समन्वय है।

(५) किसी दिन विद्यालयसे अनुपस्थित रहनेपर भी अपना काम पूरा करनेका अवकाश रहता है।

(६) अध्यापक और छात्रके बीच अत्यंत स्नेह और सद्भावनाका भाव रहता है।

(७) विद्यार्थी नित्य अपने कार्यकी परीक्षा करता चलता है इसलिये इस योजनामें परीक्षाएँ नहीं हैं।

त्रुटियाँ

(१) अध्यापकके व्यक्तित्व और चरित्रका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

(२) मौखिक कार्यके लिये अवकाश नहीं रहता।

(३) प्रश्नोत्तरी प्रणालीसे मस्तिष्कको शिक्षित करनेका भी अवसर इसमें नहीं मिलता और इसीलिये इसमें बोल-चालकी भाषा समुन्नत नहीं हो पाती।

(४) बहुतसे विद्यार्थी प्रतिलिपि भी कर सकते हैं।

(५) छात्र किसी एक विषयमें अधिक और किसीमें कम रुचि दिखा सकते हैं।

(६) अध्यापकके लिये संशोधनका कार्य बढ़ जाता है।

(७) इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये जैसे योग्य अध्यापकोंकी आवश्यकता है वह साधारणतः नहीं मिल सकती।

(८) प्रत्येक विषयके लिये अलग-अलग शाला बनानेके लिये इतना व्यय होगा कि न तो सार्वजनिक विद्यालय ही भार वहन कर सकते न सरकारी।

किन्तु यह सब होते हुए भी अन्य सब प्रणालियोंसे श्रेष्ठ-तम है क्योंकि इसमें शिक्षाके सब सिद्धांत समाविष्ट हो जाते हैं और सब स्थानोंके लिये अपने अपने साधनोंके अनुसार परिवर्तन करनेकी इसमें सुविधा भी है।

ह्यूरिस्टक या स्वयंशोध प्रणाली

विज्ञानकी शिक्षाके लिये जैसे परिणाम प्रणाली (इन्डक्टिव मेथड का प्रचलन हुआ उसी प्रकार ह्यूरिस्टिक या स्वयंशोध प्रणालीका भी अविष्कार हुआ। ग्रीक भाषाके हेउरिस्केइन शब्दसे ह्यूरिस्टिक शब्दकी उत्पत्ति हुई है। इसका शब्दार्थ है शोध करना। अतः इस प्रणालीमें विद्यार्थी स्वयं शोध करता है। अविष्कारकने जिन विशेष परिस्थितियोंमें विशेष प्रयोग या नये नये अविष्कार किए हैं उन्हींमें चलते हुए विद्यार्थी आवश्यक परिणाम—अविष्कार—पर पहुंचता है, अतः वह स्वयं परिस्थितियोंका प्रभाव देखता है, अवाञ्छित वस्तुओं और प्रयासोंको हटाकर, वाञ्छितको जुटाता तथा अपनी बुद्धिसे कार्य करता है। वह स्वयं परिस्थितियोंका स्वामी होता है, जैसा चाहता है, वैसा करता है। करो और भोगोके अनुसार वह निश्चित तथा उचित परिणाम पर पहुँचता है।

स्पेन्सरका कहना है कि विद्यार्थियोंको जितना कम हो सके उतना बताना चाहिए। यही शिक्षा रूसोने एमीलको दी है। जलधारा ही उसके लिये पुस्तक है चिड़िया ही उसके साथी हैं। न्यूटनने जिन परिस्थितियोंमें आकर्षण-शक्तिका आविष्कार किया उसी परिस्थितिमें विद्यार्थियोंको रखना पड़ता है। यदि न्यूटनको सेवके बागमें आकर्षणशक्ति का पता चला तो विद्यर्थियोंको भी विभिन्न उद्यानोंमें रहकर

उस शक्तिका पता लगाना चाहिए।

स्वयंशोध प्रणालीके जन्मदाता प्रो० आर्मस्ट्रौंग हैं। उन्होंने देखा कि विद्यार्थी स्वयं तो हाथ-पाँव हिलाते नहीं, शिक्षकका कहा या बतलाया हुआ ही मान लेते हैं। यह ज्ञान उनका निजका न होकर उधार लिया हुआ, पराया होता है। स्वयं-परीक्षित और दूसरोंके कहनेसे माने हुए ज्ञानमें बहुत अन्तर होता है। स्वयं परीक्षण करके उसपर अपना ज्ञान स्थिर करना ही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रकार प्राप्त की हुई शिक्षामें विद्यार्थीका मन लगता है। वह प्रसन्न होता है कि उसने किसी एक विषयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। शिक्षामें इस प्रकारकी तुष्टिका अत्यधिक महत्त्व है।

दूसरा लाभ जो इस प्रणाली-द्वारा संभव है वह है शिक्षार्थियोंकी रुचिको विकसित करना। भूख लगनेपर ही भोजन स्वादिष्ट लगता है। रुचि पैदा हो जानेपर ही पढ़ना स्थायी हो जाता है।

विद्यार्थियोंमें गति स्वाभाविक है। प्रत्येक विद्यार्थी कुछ हिल-डुल कर काम करना चाहता है, वह चाहता है कि वह स्वयं प्रयोग करे, स्वयं अनुभव करे। वह दूसरेके अनुभवको सत्य माननेसे हिचकता है, वह यह नहीं चाहता कि उसका अनुभव करनेका अधिकार छीन लिया जावे। इस प्रणालीमें उसका अधिकार उसे मिल जाता है। वह प्रसन्न होता है। वह काम करता है, भूल करता है, अवांछित परिणामपर पहुँचता है, फिरसे वह प्रयोग प्रारंभ

करता है, इस फिर-फिरके प्रयोगोंसे उसका अभ्यास बढ़ता है, दक्षता आती है, भूलोंकी संख्या कम होती है और स्वयं प्रश्नका समाधान करनेकी आत्मतुष्टि भी प्राप्त होती है।

स्वयंशोध प्रणालीमें मार-पीट, ताड़ना या बाहरी दबावकी आवश्यकता नहीं रह जाती। विद्यार्थी स्वयं उत्सुक होता है, वह स्वयं कार्यमें संलग्न होता है, शीघ्र-शीघ्र उसे पूर्ण करनेका प्रयास करता है, कम समयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करता है और उसपर कोई अनावश्यक अधिकाभार नहीं पड़ता, खेलकूदमें ही शिक्षा मिलती है। स्वाभाविक परिस्थितिमें प्राप्त शिक्षाका प्रभाव स्थायी होता है क्योंकि वह वास्तविक और सत्य होता है।

स्वयंशोध प्रणालीमें ज्ञात विषयसे अज्ञातकी ओर बढ़नेका अच्छा अवसर मिलता है। पढ़ना एक बात है, पढ़े हुएको गुनना दूसरी बात है। गुने हुएका प्रयोग करना ही वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य है। इस प्रणाली-द्वारा विद्यार्थी स्वयंमेव पढ़े हुए विषयकी सहायता लेता है, गुने हुएका प्रयोग करता है जिससे उसका ज्ञान पक्का होता है।

धीरे-धीरे ज्ञानकी वृद्धि और उसकी दृढ़ता करना शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है और यह इस प्रणालीसे सर्वथा संभव है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह प्रणाली आर्मस्ट्रौंगकी नई सूझ है। प्राचीन कालमें भी यह प्रणाली भारतमें प्रचलित थी। तक्षशिलाके छात्र जीवकके गुरुने उसे इस बातके लिये प्रवृत्त किया कि तुम विद्यालयके चारों ओर

पन्द्रह कोसके घेरेमें उगी हुई प्रत्येक वनस्पतिका गुण और दोष चिकित्साकी दृष्टिसे बतलाओ और उसने सबका विवरण देकर सबके गुण-दोषोंकी मीमांसा की थी।

शिक्षक

इस प्रणालीमें शिक्षक अपने प्राचीन पदसे उठकर अधिक गौरवमय स्थानपर प्रतिष्ठित हो गया। वह सब कुछ कहकर, बतलाकर छुट्टी पानेवाला नहीं रह गया। उसके लिये यह आवश्यक हो गया कि वह प्रत्येक विद्यार्थीको मूल आविष्कारकके पदपर प्रतिष्ठित कर दे। वह यह देखता चले कि विद्यार्थी ठीक पथपर चल रहा है या नहीं। छात्रके विपथ होनेपर भी बिना पूछे उसे न टोंके या ठीक मार्गपर न लगावे। आवश्यकता पड़नेपर बिना बतलाए काम न चल सकनेपर कुछ थोड़ी सहायता दे दे तो अनुचित न होगा।

विद्यार्थी

विद्यार्थी आविष्कारकका पद ग्रहण कर लेता है। उसे आविष्कारकी तुष्टि प्राप्त होती है। वही सर्वेसर्वा हो जाता है। उसका अपना विशेष स्थान होता है। वह प्रयोगके समय गैलीलियो और न्यूटन बनकर काम करने लगता है। अन्तर इतना ही होता है कि मूल वैज्ञानिकने तो बहुतसी भूलें भी की होंगी, असफलताएँ भी प्राप्त की होंगी किन्तु

स्वयंशोधक छात्र केवल उसी क्रमसे प्रयोग करता है जिस क्रमसे मूल वैज्ञानिकने सफलता प्राप्त की थी।

स्वयंशोध प्रणालीके दोष

इस प्रणालीसे शिक्षाविभाग द्वारा निर्धारित सब विषयों की शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। यह विज्ञान एवं तत्संबंधी विषयोंकी शिक्षामें तो सहायक होती है पर साहित्य, गणित इतिहास आदि अन्य विषयोंके लिये इसका कोई प्रयोग नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि इस प्रणालीमें छात्रके अर्जित ज्ञानकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। न्यूटनको या आर्किमिडीज़को जितना समय अपना सिद्धान्त निकालनेमें लगा उतना ही या उससे कम अधिक समय व्यय करना प्रत्येक विद्यार्थीकी परमित शक्तिका अपव्यय करना है। जो परिश्रम मूल आविष्कारकने किया उसे दुहराना पिष्टपेषण मात्र करना ही है क्योंकि जो अनुभूत प्रयोग हैं उनके लिये शक्तिका और समयका अपव्यय क्यों किया जाय।

तीसरा दोष यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी आविष्कारकका पद प्राप्त कर लेता है जब कि वह स्वयं उससे अनभिज्ञ साधक मात्र होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सबकी शक्ति भिन्न होती है और सब आविष्कारक नहीं हो सकते और न सबको इसकी आवश्यकता ही है। जिसको आवश्यकता हो वह ऐसा करे।

चौथी बात यह है कि सब विद्यार्थी समान रूपसे सदैव उसमें रुचि नहीं ले सकते। थोड़े दिनों, महीनों या वर्षों में उनका जी ऊब जाता है और वे समझने लग जाते हैं कि एक चक्करसे छूटकर दूसरेमें जा पड़े हैं। नित्यकी भूल, नित्य का सुधार करते करते उनका जी टूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी रुचि जाती रहती है और वह उस विषयसे, उस शिक्षासे भागता फिरता है यहाँतक कि उसको अरुचि हो जाती है। वह विषय सदाके लिये उसको डरावना जान पड़ने लगता है और यहीं शिक्षाकी इति हो जाती है।

एक बात और है जिससे इसका पोलापन प्रकट होता है। इस प्रकारके शिक्षक प्राप्त करना, इस प्रकारकी प्रयोग-शालाएँ बनाना सभी विद्यालयोंके लिये संभव नहीं है क्योंकि इतना धन अपव्यय करना साधारण पाठशालोंके लिये नितान्त कठिन है। किन्तु जहाँ संभव हो सके वहाँ इस प्रणालीको उचित स्थान देना चाहिए, क्योंकि इस प्रणालीसे छात्रोंकी रचना-प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलेगा और वे स्वयं अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त होंगे।

ह्यूरिस्टिक प्रणाली और ह्यूरिज़्ममें भी अन्तर जान लेना चाहिए। ह्यूरिज़्म या स्वयंशोध उस क्रियाको कहते हैं जिसमें वास्तविक वैज्ञानिक स्वतः अपने प्रयोगों द्वारा कोई अन्वेषण या आविष्कार करता है किन्तु स्वयं-शोध प्रणालीमें छात्र-द्वारा उस विशेष क्रियाकी आवृत्ति कराई जाती है

जिसके आधारपर मूल वैज्ञानिकने आविष्कार किया था। ह्यूरिज़्ममें मूल वैज्ञानिक स्वयं अनुसन्धान करता है, ह्यूरिस्टिक प्रणालीमें अध्यापकके निर्देशानुसार छात्र-गण किसी वैज्ञानिकके अन्वेषण-क्रमकी स्वयं प्रयोगद्वारा आवृत्ति करते हैं।

शिक्षा शास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या

पाठ्य-पुस्तकोंके द्वारा शिक्षा देनेका विचार करनेसे पूर्व शिक्षा-शास्त्रके कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं सिद्धान्तोंके बलपर ही नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ, पाठन-विधियाँ तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। किन्तु इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पूर्व यह भी उचित है कि हम उन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका कारण भी दे दें और उनके मनोवैज्ञानिक आधारकी भी व्याख्या कर दें क्योंकि उनके कारण डाल्टन-प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड), बालोद्यान-प्रणाली (किण्डेर-गार्टेन) आदि अनेक शिक्षा–योजनाओंका जन्म हुआ है जिनका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं।

बालक कुछ माता-पिता तथा कुल-परंपराके संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगति में उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। वह जैसे औरोंको चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते- पहनते

हँसते-रोते, कूदते-फाँदते तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनुकरण हमारी शिक्षाका मूलाधार है। बालकमें उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ-पैर कुछ करनेको व्याकुल रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते हैं जिनमें उनकी रुचि हो। जिसमें रुचि होगी उसमें उनका मन लगेगा, जिसमें मन लगेगा उसीका ज्ञान बालकके मस्तिष्कमें दृढ़ होकर बैठेगा, तथा जो कुछ उसके मस्तिष्कमें बैठेगा उसीके अनुकूल बालकका स्वभाव बनेगा, उसकी प्रवृत्ति सधेगी और उसका ज्ञान बढ़ेगा। ज्यों-ज्यों वह अपना ज्ञान संचित करता जाता है त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञानके आधारपर वह नया ज्ञान बढ़ाता चलता है। अतः बालककी रुचि ही सबसे प्रधान वस्तु हुई। अनुभवसे जाना गया है कि बालकोंको रंगोंसे, रंगीली वस्तुओंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर वस्तुएँ भाती हैं और ऐसी बातोंमें रुचि होती है जिसमें उन्हें कूदने-फाँदने और चिल्लानेका अवसर मिले। संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। गतिशील कार्योंमें उनकी रुचि होती है। वे जादूगर, बाजीगर, नट आदिके करतब बड़े चावसे देखते हैं। उन्हें अचरजभरे करतबोंमें अधिक कुतूहल होता है। इसीलिये वे कहानियाँ बड़े चावसे सुनते हैं, उन्हें मेले, तमाशे अच्छे लगते हैं। वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चरखी, घुमनी सभी रुचिकर वस्तुएँ मिल

जाती हैं। बालकोंको दबकर, परतन्त्रतामें रहना अच्छा नहीं लगता। उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए। रटनेमें उनकी तनिक रुचि नहीं। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन समझा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथासंभव स्वतंत्र रूपसे विकसित होनेकी सुविधा दे दी। उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन करनेके पश्चात् अब हम शिक्षा-प्रणालीके दो परस्पर विरोधी विधानोंपर विचार करते हैं।

हम दो प्रकारसे शिक्षा दे सकते हैं (१) विश्लेषण प्रणालीसे तथा (२) संश्लेषण-प्रणालीसे। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः (१) परिणाम-प्रणाली तथा (२) सिद्धान्त प्रणाली भी कहते हैं।

१—विश्लेषण प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारंभ करते हैं और फिर उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले हम पृथ्वीसे प्रारम्भ करेंगे और जलवायुके अनुसार पृथ्वीका विभाजन कर देंगे और इन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे। इस प्रकार हमने पूरी पृथ्वीका विश्लेषण कर डाला और विश्लेषण प्रणालीसे भूगोलकी शिक्षा दी।

भाषामें ही लीजिए। यदि हमें रामचरितमानस पढ़ाना हो तो इस प्रणालीके अनुसार पहले हम समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करेंगे, भाषाकी विशेषताएँ

देखेंगे और तब एक-एक कांडका अलग-अलग अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कोई ऐसा विषय पढ़ाना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है।

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम बता देते हैं और फिर विद्यार्थी उन नियमोंकी व्यापकताको अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर सिद्ध करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—'संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा शब्दकी विशेषता बताता हो।' इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता जैसे व्याकरणकी शिक्षामें।

२—संश्लेषण-प्रणालीमें हम तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके पूर्णकी ओर बढ़ते हैं। जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी तथा गोल रेखाएँ

सिखाई जायँ और इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर 'अ' का स्वरूप सिखाया जाय। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंकी शिक्षाके लिए किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके।

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें भागोंसे प्रारम्भ करके फिर पूर्ण वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रयोगोंसे प्रारम्भ करते हैं और उसके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। व्याकरण-शिक्षामें हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।

इस वाक्यमें राम एक विशेष-व्यक्तिका नाम, अयोध्या एक विशेष स्थानका नाम है, रथ एक वस्तु विशेषका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाले शब्दको संज्ञा कहते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये होता है।

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेषण तथा परिणाम प्रणालीका ग्रहण और संश्लेषण तथा सिद्धान्त प्रणालीका त्याग करना चाहिए। अध्यापकका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्तिसे उसे

ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१—बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२—पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।

३—इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

उपर्युक्त क्रमके आधारपर ही शिक्षा-शास्त्रियोंने ये सिद्धान्त-सूत्र बना लिए हैं—

१—व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो।

२—प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो।

३—उदाहरणसे नियमकी ओर चलो।

४—ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।

५—साधारणसे असाधारणकी ओर चलो।

६—अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो।

७—अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर चलो।

१—व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर—हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तुको देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है या उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें उसके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारकी शिक्षा-विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। किण्डेर-गार्टेन-प्रणालीमें इसीकी प्रधानता है। किन्तु यह

विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए । रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है, वह गद्दा खाकर उलटी लौट आती है । वह गेंदको पृथ्वीपर पटकता है तब भी वह गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह पानीके कंडालमें फेंकता है तो वह ऊपर नहीं उठती, धुनी हुई रूईपर पटकता है तो नहीं उछलती, घासके ढेरपर मारता है तो वह नहीं लौटती । इस व्यक्तिगत अनुभवसे वह यह व्यापक परिणाम निकालता है कि रबड़की गेंद ठोस वस्तुओंपर पटकनेसे गद्दा खाती है।

२—प्रकटसे अप्रकटकी ओर—यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है । एक उदाहरण लीजिए। दो बाँस और तीन बाँस मिलकर पाँच बाँस होते हैं, दो कुत्ते और तीन कुत्ते मिलकर पाँच कुत्ते होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ प्रकट तीन वस्तुओंके साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं।

३—उदाहरणसे नियमकी ओर—यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंके ही अन्तर्भुक्त है । नियम बतानेसे पहले उदाहरण दे दिए जायँ अर्थात् कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाया जाय। उदाहरण लीजिए—

१—कुत्ता भौंकता है।

२—चिड़िया चहचहाती है।

३—गाय रँभाती है।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमेंसे एक-एकको लेकर भौंकने, चहकने तथा रँभानेवालोंका ज्ञान प्रश्नोंद्वारा कराकर यह नियम निकलवाया जा सकता है कि कुत्ता, चिड़िया और गाय तीनों शब्द कुछ कार्य करनेका संकेत देते हैं अतः ऐसे शब्द कर्त्ता कहलाते हैं।

४—ज्ञातसे अज्ञातकी ओर—बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकको यह जान लेना चाहिऐ कि प्रस्तुत विषयका बालकोंको कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्कद्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोंने देखा है कि पतीलीका ढक्कन दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। उसीके आधारपर बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलका अंजन चलता है।

५—साधारणसे असाधारणकी ओर—बच्चोंके नित्य प्रतिके जीवनके अनुभवोंसे प्रारम्भ करके ऐसे तथ्यतक पहुँचाना जो असाधारण हो। संस्कृतके पण्डितों, विशेषतः नैयायिकोंके घट-पट इसके उदाहरण हैं। बालक यह जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। उसीके आधारपर उसे यह असाधारण तथ्य बताया जा सकता है कि इस संसारको भी

किसीने बनाया है।

६—अनिश्चितसे निश्चितकी ओर—बच्चा अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है। अनेक प्रकारके प्रयोगों, कथाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी आवश्यकता इत्यादिके विषयमें ज्ञान देकर कुत्तोंके विषयमें बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर देता है।

७—अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर—अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। युक्तियुक्त वह है जो युक्तिसंगत हो अर्थात् हमारे अनुभूत ज्ञानके वैज्ञानिक विवेचन-द्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है कि पत्ते नीचे गिरते हैं, फल नीचे गिरते हैं, प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है किन्तु वह गिरनेका कारण नहीं बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेनेपर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार उसको नया ज्ञान दिया जाय, उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय। बालकके मनके अनुकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंमें एक और भी ध्वनि है जिसका

स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। जब हमारे हाथमें पाठ्य-पुस्तक आती है तो हम पहले पाठसे आरंभ करते हैं और क्रमशः पढ़ाने लगते हैं।

पाठ्य-पुस्तकोंका संकलन करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक विचार करनेका कम अवसर रहता है इसलिये उनके संकलित पाठोंमें कोई मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं रहता। अतः अध्यापकको सावधान होकर वर्षके आरम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह किस क्रमसे विभिन्न पाठ पढ़ावेंगे। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें वर्षा-वर्णन होता है, किन्तु हम उसे पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें, शरद्-वर्णनको हम पढ़ाते हैं वर्षा-ऋतुमें। इसी प्रकार जिन दिनों कक्षामें भूगोलके घण्टेमें चीन पढ़ाया जाता है उन दिनों हम अपनी पाठ्य-पुस्तकोंमें अरब-वासियोंकी जीवन-चर्य्या पढ़ाते हैं। अतः हमें पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१—पाठोंका क्रम समयके अनुकूल हो।

२—अन्य पाठ्य-विषयोंमेंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

३—बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

४—भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

५—सरल तथा मनोरंजक पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

भारतीय शिक्षाके नवीन प्रवर्त्तक

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्दजीने अपने समयमें प्रचलित अँगरेजी शिक्षा-पद्धतिमें अनेक दोष अनुभव करके एक नवीन शिक्षा-प्रणालीका प्रतिपादन किया और इसे गुरुकुल शिक्षाप्रणालीका नाम दिया। उस समय भारतमें शिक्षाकी मुख्यतया दो प्रणालियाँ प्रचलित थीं। एक भारतके ब्रिटिश शासकों-द्वारा प्रारम्भ की गई थी और दूसरी पुरानी परम्पराके अनुसार पण्डित-मण्डलीमें प्रचलित थी। सरकार-द्वारा प्रचलित प्रणाली भारतके राष्ट्रिय तथा धार्मिक आदर्शोंके प्रतिकूल थी। उसमें भारतकी भाषा, धर्म, सभ्यता, साहित्य, तथा संस्कृतिकी सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पण्डित-मण्डलीकी शिक्षा-पद्धति समयकी आवश्यकताओंको पूर्ण नहीं करती थी। उसमें वर्त्तमान युगके ज्ञान-विज्ञानोंको कोई स्थान प्राप्त न था। चरित्र-निर्माणके लिये ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या आदि जिन आदर्शोंका पालन अवश्यक है उनका दोनों प्रणालियोंमें कोई विधान न था। स्वामी दयानन्दजीने अनुभव किया कि भारतमें प्राचीन गुरुकुल-प्रणालीका पुनरुद्धार करके इन दोषोंको दूर किया जाना चाहिए। इसीलिये उन्होंने शिक्षाके निम्नलिखित आदर्श और सिद्धान्त प्रतिपादित किए—

(१) यह राजनियम और जाति-नियम होना चाहिए कि आठवें वर्षसे आगे कोई अपने लड़के और लड़कियोंको घरमें न रख सके, पाठशालामें अवश्य भेज दे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

(२) लड़कों और लड़कियोंके गुरुकुल पृथक् पृथक् हों।

(३) विद्यार्थी लोग गुरुकुलोंमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करें। २५ वर्षसे पूर्व बालकका और १६ वर्षसे पूर्व कन्याका विवाह न हो सके।

(४) गुरुकुलमें सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिए जायँ। चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो चाहे दरिद्रकी सन्तान हो—सबके साथ एक समान व्यवहार किया जावे।

(५) गुरुकुलोंमें गुरु और शिष्य पिता-पुत्रके समान रहें।

(६) विद्या पढ़नेके स्थान गुरुकुल नगर और ग्रामोंसे दूर एकान्तमें हों।

(७) शिक्षामें वेद, वेदाङ्ग तथा सत्य शास्त्रोंको प्रमुख स्थान दिया जाय, परन्तु साथ ही राजविद्या, संगीत, नृत्य, शिल्पविद्या, गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, भूगर्भविद्या, यन्त्रकला, हस्तकौशल, चिकित्सा-शास्त्र आदिका भी यथोचित रूपसे अभ्यास कराया जाय।

गुरुकुल काँगड़ी

निःसन्देह स्वामी दयानन्दके ये विचार शिक्षाके क्षेत्रमें

अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार थे। आर्यसमाजके सम्मुख प्रारंभसे ही इन्हें क्रियामें परिणत करनेकी समस्या उपस्थित थी। गुरुकुल काँगड़ीकी स्थापनासे पूर्व भी आर्यसमाजने शिक्षाके क्षेत्रमें जो प्रयत्न किए, उनमें ऋषि दयानन्दके इन विचारोंको आदर्शके रूपमें सम्मुख रखा। जब डी० ए० वी० कालेजकी स्थापना की गई, तो उसके साथ ही ब्रह्मचर्याश्रम खोलने और वेद तथा सत्य शास्त्रोंको प्रमुख स्थान देनेका भी विचार किया गया।

उसके पाठ्यक्रमके सम्बन्धमें निम्नलिखित आदर्श निश्चित किए गए थे:—

[१] हिन्दू-साहित्यको उन्नत और प्रोत्साहित करना।

[२] प्राचीन संस्कृत साहित्य और वेदोंके अध्ययनको प्रचलित तथा प्रोत्साहित करना।

डी० ए० वी० कालेजकी स्थापना करते समय ऋषि दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श उसके संस्थापकोंके सम्मुख थे पर डी० ए० वी० कालेज उन आदर्शोंपर दृढ़ नहीं रह सका, समयका प्रवाह उसे दूसरी ओर ले गया।

स्वामी श्रद्धानन्द

पर डी० ए० वी० कालेजकी असफलतासे ऋषि दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शोंपर आर्यसमाजकी आस्था कम नहीं हुई। कुछ ही समय बाद आर्यसमाजमें इस नये आन्दोलनका सूत्रपात हुआ कि स्वामी दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शोंके अनुसार गुरुकुल-शिक्षाप्रणालीका पुनरुद्धार करना चाहिए।

महात्मा मुन्शीराम [स्वामी श्रद्धानन्द] इस आन्दोलनके प्रवर्तक तथा प्रमुख नेता थे। स्वामी दयानन्दने आदर्श शिक्षाका जो मार्ग दिखाया था, महात्मा मुन्शीराम उसके पहले पथिक बने। आजसे ४६ वर्ष पूर्व गुरुकुल-शिक्षाप्रणालीका पुनरुद्धार एक असम्भव कल्पना, एक अक्रियात्मक आदर्श समझा जाता था। महात्मा मुन्शीरामके प्रयत्नसे यह असम्भव कल्पना सम्भव हो गई और शिक्षाके क्षेत्रमें एक नई क्रान्ति हुई।

गुरुकुलकी स्थापनाके निम्नलिखित आठ कारण बताए गए हैं—

[१] वेद आर्यसमाजके प्राण हैं। विशाल संस्कृत साहित्यका मूलस्रोत वेद ही है। वेदके अध्ययनके लिये गुरुकुलकी आवश्यकता है।

[२] संस्कृतका अध्ययन तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक अंगों और उपांगोंके साथ वेदका अध्ययन न किया जाय। अतः ऐसे शिक्षणालयकी आवश्यकता है, जहाँ संस्कृत साहित्यके साथ-साथ वैदिक साहित्यका भी अध्ययन हो।

[३] भारतकी शिक्षा सच्चे अर्थोंमें राष्ट्रिय तभी हो सकती है जब यहाँके शिक्षणालयोंमें संस्कृतका अध्ययन हो। ब्रिटिश सरकारने जो शिक्षा प्रचलित की है, वह भारतीयोंको अंग्रेज बना रही है वह भारतीयोंमें देशभक्तिका विनाश कर रही है, मुसलिम शासनकी अनेक शताब्दियाँ जिन हिन्दुओंको अपना दास नहीं बना सकीं उन्हें दस-बीस वर्षोंकी

अंग्रेजी शिक्षा दास बनानेमें समर्थ हो रही है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि हम आर्य जातिके लिये शिक्षाकी एक ऐसी योजना तैयार करें जो सच्चे अर्थोंमें 'राष्ट्रिय' हो, जो आर्य जातिकी 'राष्ट्रिय-शिक्षा'की आवश्यकता पूर्ण करे। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विदेशी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञानोंको ग्रहण न किया जाय। इनका लाभ उठाना परम आवश्यक है। हमें अंग्रेजी, आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीतिका अध्ययन करना ही चाहिए। क्या यूरोपियन लोग विदेशी भाषाओं और प्राच्य विद्याओंको नहीं पढ़ते हैं? वे पढ़ते हैं, पर अपनी शिक्षाको विदेशी नहीं बना देते। इसी तरह हमें भी सब विदेशी ज्ञान विज्ञान पढ़ते हुए अपनी 'राष्ट्रियता'की रक्षा करनी चाहिए। गुरुकुलकी स्थापनामें यह तीसरा हेतु है।

(४) ब्रह्मचर्य शिक्षाका मुख्य आधार है। हमारी संस्थाएँ ऐसी होनी चाहिएँ जो नगरोंके दूषित प्रभावोंसे दूर हों और जहाँ ब्रह्मचर्यके नियमोंका भली-भाँति पालन होता हो।

(५) सरकारी विश्वविद्यालयोंमें परीक्षाकी जो पद्धति प्रचलित है वह वास्तविक विद्वत्ताके मार्गमें बाधक है। अतः कोई ऐसी संस्था जो सरकारी विश्वविद्यालयोंकी परीक्षा भी दिलाना चाहे और वैदिक पाण्डित्य भी उत्पन्न करना चाहे कभी सफल नहीं हो सकती। डी०ए०वी० कालेजने यही

प्रयत्न किया और उसे असफलता मिली। गुरुकुल इस परीक्षा पद्धतिसे दूर रहेगा।

(६) शिक्षणालयोंमें शिक्षकको बालकके माता-पिताका स्थान लेना चाहिए। भारतके वर्तमान शिक्षणालयोंमें शिक्षक लोग माता पिताका स्थान नहीं लेते। गुरुकुलमें यह कमी दूर की जायगी।

(७) शिक्षाके लिये कोई शुल्क नहीं लिया जाना चाहिए।

(८) यूरोपीय विद्वानोंने भारतीय इतिहासमें जो खोज की है उसमें भारतीय इतिहासके साथ न्याय नहीं हुआ। उसमें जो तिथिक्रम निश्चित किया गया है, वह सर्वथा अशुद्ध है। उसका खण्डन करनेके लिये भारतके प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्वका विवेचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। यह कार्य भी गुरुकुल जैसे शिक्षणालयसे ही पूर्ण किया जा सकता है।

इनको दृष्टिमें रखकर गुरुकुलमें पढ़ानेके लिये जो पहली पाठनविधि बनाई गई थी उसमें साङ्गोपाङ्ग वेद और संस्कृत साहित्यके गम्भीर अध्ययनके साथ-साथ अंग्रेजी, गणित, रसायन, भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, भूविज्ञान, कृषि, आयुर्वेद, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र आदिके उच्च कोटिके अध्ययन की भी व्यवस्था की गई थी। वस्तुतः गुरुकुलके प्रथम प्रवर्त्तक आर्य जातिके लिये 'राष्ट्रिय शिक्षा' की योजना तैयार कर रहे थे। उनकी दृष्टिमें आदर्श 'राष्ट्रिय शिक्षा' वह

थी जिसमें आधुनिक ज्ञानविज्ञानके साथ संस्कृत साहित्य और साङ्गोपाङ्ग वेदका अध्ययन होता हो।

इस गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीकी निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई थीं।

१, ब्रह्मचर्यका पुनरुद्धार।

२, ब्रह्मचारियों और उनके गुरुओंका पुत्र और पिताके सम्बन्धसे रहना।

३, परीक्षा-पद्धतिके दोषोंसे मुक्त रहना।

४, शारीरिक उन्नतिके लिये विशेष रूपसे बल देना।

५, भारतकी शिक्षा-प्रणालीमें संस्कृत तथा मातृभाषा हिन्दीको प्रमुख स्थान देना।

६, आधुनिक विज्ञान तथा अँगरेजी भाषाको समुचित स्थान देना।

७, शिक्षाके लिये कोई शुल्क न लेना।

८, प्राचीन भारतीय इतिहासके अन्वेषण तथा शोधका विशेष रूपसे प्रबन्ध करना।

काँगड़ीमें २२,२३ और २४ मार्च सन् १६०२ को गुरुकुल-का प्रारम्भ-उत्सव मनाया गया।

आज गुरुकुल काँगड़ी भारतकी यशस्विनी संस्थाओंमेंसे प्रमुख है और वहाँके स्नातकोंने भारतकी सामाजिक और राष्ट्रिय जागर्त्तिमें अत्यन्त सम्मानपूर्ण योग दिया है। किन्तु एक बात जो गुरुकुलमें नहीं हो रही है वह केवल यह है कि विद्याके साथ जो तपस्या और वास्तविक ब्रह्मचर्य व्रत

होना चाहिए था उसका अत्यन्त अभाव है। जबतक शिक्षाके साथ तपस्याका संयोग नहीं होता तबतक वह भारतीय नहीं बन सकती।

हमारे शास्त्रोंमें यन्त्र-शक्ति और तन्त्रशक्तिके अनेक प्रयोग मिलते हैं। अथर्ववेदमें अनेक ऐसे तन्त्र हैं जिनसे शत्रु-को कीलित किया जा सकता है, पराजित किया जा सकता है। इनकी सिद्धिके प्रयोग गुरुकुलमें ही किए जा सकते हैं और प्रयोगके पश्चात् यह कहा जा सकता है कि मन्त्रोंकी जिस शक्तिका जो माहात्म्य या प्रभाव लिखा है वह ठीक है या नहीं। जबतक ये प्रयोग वहाँ नहीं होते तबतक उनमें और अन्य विद्यालयोंमें अन्तर क्या रह जाता है।

विश्वभारती और कवीन्द्र रवीन्द्र

सन् १८६३ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोरने साधकोंके लिये जो शान्ति निकेतन स्थापित किया था उसीमें से विश्व-भारतीकी उत्पत्ति हुई। सन् १६०१ ई० में कविवर रवीन्द्र-नाथ टैगोरने थोड़े से गिने-चुने बच्चोंके लिये एक विद्यालय स्थापित किया था जिसका उद्देश्य यह था कि बच्चोंको ऐसी शिक्षा दी जाय जो प्रकृतिसे विलग न हो, जहाँ बच्चे परिवारके वातावरणका अनुभव करें, संस्थाको आत्मीय समझें अर्थात् जहाँ वे स्वतंत्रता, पारस्परिक विश्वास और उल्लासके साथ अध्ययन करें और रहें। ६ मई सन् १६२२ ई०

को अन्तराष्ट्रिय विश्वविद्यालयके रूपमें विश्व-भारतीकी स्थापना हुई जिसका उद्देश्य था—

१—पूर्वकी विभिन्न संस्कृतियोंको उनकी मौलिक एकताके आधारपर सन्निकट लाना।

२—इसी एकताके आधारपर पश्चिमके विज्ञान और संस्कृतिके समीप पहुँचना। और,

३—अध्ययन और मानवीय चेतनाके सर्वसाधारण सहबन्धुत्वका अनुभव करना, पूर्व और पश्चिमका समन्वय करना और इस प्रकार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिससे विश्वबन्धुत्व- और विश्व-एकता संभव हो सके।

कलकत्तेसे लगभग १०० मीलपर नगरके कोलाहलसे दूर खुले मैदानमें शान्ति-निकेतन स्थित है, जहाँ अध्यापकों और छात्रोंमें परस्पर स्नेह और आदरकी भावना विद्यमान है, जहाँ ऋतुके पर्वों, उत्सवों, संगीत और नाट्य-प्रयोगों तथा पास-पड़ोसके गावोंके सुधार कार्योंमें सब लोग मिलते हैं और बाहरसे आनेवाले अनेक महापुरुषोंके संसर्गमें आते हैं।

विश्व-भारतीमें पाठ-भवन शिक्षा-भवन, विद्या-भवन, चीना-भवन, कला-भवन, संगीत-भवन, हिन्दी-भवन. श्रीनिकेतन (हस्त-कौशल तथा ग्रामोद्योग विभाग), बड़ा पुस्तकालय और विभागीय पुस्तकालय है। यहाँ सबसे बड़ी सुविधा यही है कि विद्यार्थी चाहे जिस विभागमें अध्ययन कर सकते हैं। छोटे बच्चों, बड़े बच्चों, युवक-छात्रों और खोजविभागके छात्रोंके लिये अलग-अलग छात्रवास हैं और महि-

त्राओंके लिये अलग छात्रावास हैं। यहाँका कार्य-क्रम इस प्रकार है—

जागरण—प्रातःकाल	४॥ बजे
आवास झाड़ना	४,५०
व्यायाम	५१.५
स्नान	५,३०
कलेवा	५.५५
वैतालिक तथा समवेत उपासना	६,१५
अध्ययनाध्यापन	६.३० से १०.३० तक
प्रक्षालन	१०.३०
मध्याह्न भोजन	१०.५०
विश्राम—दोपहर	१२.१५ से
व्यक्तिगत अध्ययन	१,५ से २ तक
अध्ययनाध्यापन	२ से ४ तक
आवास—शुद्धि	४.१५
जलपान	४.२५
उपस्थिति-लेखन	४.४०
खेल	४,५५. से ५,५५ तक
प्रक्षालन—संध्या	६ बजे
समवेत उपासना	६.२०
अध्ययन और व्याख्यान	६,२० से ७,४५ तक
संध्या—भोजन	८ बजे
विश्राम	९ बजे

विश्व-भारतीकी स्थापनाके समय जो महान् उद्देश्य दृष्टिमें रक्खे गए थे और जिस विश्व-बन्धुत्वकी कल्पना की गई थी उसकी बहुत कुछ प्राप्ति हुई इसमें संदेह नहीं है किन्तु उस भावनाके पीछे कवीन्द्र रवीन्द्रका व्यक्तित्व भी कम नहीं था। किन्तु इतने महान् उद्देश्य, संस्थाके बलपर नहीं, व्यक्तित्वके बलपर चलते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि इस संस्थाके द्वारा भारतीय कलाओंका बड़ा प्रचार हुआ किन्तु विश्व-बन्धुत्वकी और सांस्कृतिक एकताकी जिस उदात्त भावनाके साथ विश्वभारतीका जन्म हुआ था वह अभी तक पूरी नहीं हो पाई क्योंकि यह संस्था भी थोड़े दिनोंमें विश्वविद्यालयोंके पाठ्य-क्रम पूरा करनेके फेरमें पड़ गई अन्यथा इसमें ऐसे-ऐसे सांस्कृतिक दूत उत्पन्न किए जा सकते थे जो संसार भरके विभिन्न देशोंमें पहुँचकर सांस्कृतिक विनिमय करके इस संस्थाके मूल उद्देश्यकी पूर्ति कर सकते थे।

महामना मालवीयजी और हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंमें सबसे अधिक कर्मठ और प्रतापी महापुरुष हुए पंडित मदनमोहन मालवीयजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्थापक।

भारतका परम सौभाग्य था कि हमारे संचित सुकृत्यों ने सहसा उद्बुद्ध होकर पुण्यश्लोक मालवीयजी महाराज जैसे दिव्य, पावनचरित महापुरुषको हमारे समाज-

में—हमारे युग में—लाकर अवतरित किया। उनका जन्म २५ दिसम्बर सन् १८६१ को प्रयागमें हुआ। निर्धन किन्तु तपःपूत सात्विक मनस्वितासे सम्पन्न परमभागवत पं० ब्रजनाथ मालवीय तथा पूजनीया श्रीमती मूनादेवीजीकी पावन स्नेह-छायामें अपनी शिशुता और किशोरताका संस्कार सँवारकर मालवीयजी महाराजने आशावाद, वाग्माधुर्य, महत्त्वाकांक्षा और संलग्नता—इन गुणोंका वरदान पाकर भारतके विभिन्न क्षेत्रोंका सफल नेतृत्व प्रारम्भ कर दिया।

जब पढ़ाईका व्यय भी दुर्निवार भार बना हुआ हो, बड़े परिवारकी बड़ी आवश्यकताएँ भी जहाँ सदा अभाव बनी रहती हों; दूसरोंकी दी हुई छात्रवृत्तिसे पोथीका काम भी न चल सकता हो तब भी दरिद्रताके क्रूर गर्जनकी साहसपूर्ण भर्त्सना करके मालवीयजीने उस सत्सङ्कल्पमय स्वप्नकी सृष्टि की जिसमें वशिष्ठके गुरुकुलसे चली आती हुई परम्पराने काशी, तक्षशिला और नालन्दाके विश्वविश्रुत विद्या-केन्द्रोंकी पावन प्रेरणासे पूर्ण होकर आधुनिक विश्वविद्यालयोंकी व्यापक ज्ञान-राशिका समन्वय करके सुन्दर भारतीय विद्यापीठका स्वरूप धारण कर लिया, जिसकी कथा उस दीन ब्राह्मण-बालकके मुखसे सुनकर सभी सहपाठी स्वाभाविक कुतूहलसे दृढ़ अविश्वासकी परिहासपूर्ण हँसी हँस देते रहे। किन्तु, मालवीयजीकी आशावादी महत्त्वाकांक्षाने उन उपेक्षाभरी मुसकानों

और ठठोलियोंसे तनिक भी हतोत्साह न होकर अपनी स्वप्नमयी कल्पनाको निरन्तर चिन्तन और मित्रोंकी सम्मतिसे पोषित करके इतना शक्तिशाली कर लिया कि वह स्वप्न धीरे-धीरे अमूर्तसे मूर्त होकर, अप्रत्यक्षसे प्रत्यक्ष होकर दिखाई देने लगा और जिसे एक रुपया छात्रवृत्ति माँगनेके लिये कई-कई बार मीलोंका चक्कर लगाना पड़ता था उसके हाथमें लक्ष्मी निर्झर बनकर बरसने लगी।

अनेक प्रकारकी पारिवारिक और आर्थिक अड़चनोंके होते हुए भी पं० ब्रजनाथजीने अपने तृतीय पुत्र मदन-मोहनकी महत्त्वाकांक्षाको कभी दुर्बल नहीं होने दिया। सामर्थ्य न होते हुए भी उन्होंने मालवीयजीको अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये प्रोत्साहन दिया किन्तु जबतक इन्होंने बी० ए० किया तब तक परिवारकी शक्ति शिथिल हो चुकी थी। अत्यन्त अनिच्छापूर्वक इन्हें अपनी गृहस्थी-का बोझ सँभालनेको विवश होना पड़ा और इन्होंने गवर्नमेंट स्कूलमें पचास रुपयेपर अध्यापन कार्य स्वीकार करके नये दायित्वका भार सँभालना प्रारम्भ कर दिया।

सच्चरित्रता, मृदुभाषिता और पाण्डित्य—अध्यापक-के इन तीन गुणोंसे अलंकृत होकर थोड़े ही दिनोंमें मालवीयजीके आकर्षक व्यक्तित्वने गवर्मेंमेंट स्कूलके पूरे वातावरणमें एक प्रकार का सांस्कृतिक प्रभाव उत्पन्न कर दिया। पढ़ानेके सहानुभूति पूर्ण ढंगने और उनके कोमल

स्निग्ध व्यवहारने छात्रोंको मंत्रमुग्ध कर दिया और वहाँके अधिकारी भी मालवीयजीसे इतने प्रसन्न हुए कि दो वर्षमें ही उनका वेतन पछत्तर रुपए हो गया। इस नून तेल-लकड़ी के जकड़े हुए बन्धनमें भी मालवीयजीका स्वप्न रह-रहकर इन्हें व्याकुल कर रहा था किन्तु अभी समय नहीं जागा था, मुहूर्त नहीं बन पाया था। अचानक सन् १८८६ में कलकत्ते की काँग्रेस हुई। वहाँ मालवीयजीके ओजस्वी भाषणने सहसा उन्हें उठाकर बहुत ऊँचे पहुँचा दिया और वे केवल अध्यापक न रह सके, देशके नेता बन गए। कालाकाँकरके राजा रामपाल सिंहकी गुणग्राहकताने उन्हें दैनिक 'हिन्दुस्थान' सौंप दिया किन्तु राजा साहबकी तामसी दिनचर्यासे इनकी सात्त्विक दिनचर्या मेल न खा सकी और इसीलिये अकस्मात् एक दिन ये सम्पादनका परित्याग करके चले आए और उन्होंने वकालत पढ़नी प्रारम्भ की। सन् १८९१ ई० में वकालत पास करके ये पूरे वकील बन गए। यों तो शेरकोटकी रानीवाले मुकद्मेने उन्हें यश दिया ही किन्तु उनकी वकालतकी सबसे अखण्ड कीर्ति है चौरीचौरावाला मुकद्मा जिसमें उनकी तर्कपूर्ण वाणीने फाँसीपर झूलते हुए सैकड़ों गले उतार लिए, सैकड़ों माँगोंका सिन्दूर रख लिया, सैकड़ों हाथोंकी चूड़ियाँ बचा लीं और सैकड़ों नारियोंके सोहाग चिरजीवी करके उनका कृतज्ञतापूर्ण आशीर्वाद पाया।

इसी वकालतके दिनोंमें मालवीयजीकी घनिष्ठता पण्डित (सर) सुन्दरलालसे बढ़ रही थी और इस घनिष्ठताके फल-

स्वरूप भावी विश्वविद्यालयकी योजना भी कुछ मूर्त रूप धारण कर रही थी। अन्तमें मालवीयजीने देखा कि दिन बीत रहे हैं, तपस्या के बिना इतनी बड़ी योजना सफल नहीं हो पावेगी, बस वे सब कुछ छोड़कर अपनी जमी-जमाई वकालत-को लात मारकर चल दिए—शिक्षाका व्रत लेकर। सन् १६०४ ई० में काशीनरेश महाराज सर प्रभुनारायणसिंहके सभापतित्वमें काशीके मिण्ट हाउसमें सर्वप्रथम मालवीयजी-ने हिन्दू विश्वविद्यालयकी विशाल योजना उपस्थित की जिसे सुनकर सभी स्तम्भित रह गए। किसीको भी विश्वास न हुआ कि पूर्व और पश्चिमकी समस्त विद्याओंको अपने भीतर पोषित करनेवाला इतना बड़ा विश्वविद्यालय किसी प्रकार भी बन पावेगा। अगले वर्ष सन् १६०५ में राष्ट्रीय महासभा-के अवसरपर ३१ दिसम्बर सन् १६०५ को बरारके श्री वी० एन० महाजनीके सभापतित्वमें काशीके टाउनहालमें सब धर्मोंके प्रतिनिधियों और भारतके प्रसिद्ध शिक्षा-प्रेमियोंके सामने यह योजना उपस्थित की गई, जहाँ एक स्वरसे सबने इसका हार्दिक समर्थन किया और फिर अगले दिन १ जनवरी सन् १९०६ को वहीं काँग्रेसके पण्डालमें ही हिन्दू विश्व-विद्यालय स्थापित करनेकी घोषणा कर दी गई। उसी वर्ष २० से २६ जनवरी तक प्रयागमें साधुओं तथा विद्वानोंकी सनातनधर्म-महासभामें यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ कि—

(१) भारतीय विश्वविद्यालयके नामसे काशीमें एक हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना की जाय जिसके निम्नाङ्कित

उद्देश्य हों—

(अ) श्रुतियाँ तथा स्मृतियों-द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम-धर्मके पोषक सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये तैयार करना।

(आ) संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनकी अभिवृद्धि

(इ) भारतीय भाषाओं तथा संस्कृतके द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षाके प्रचारमें योग देना।

(२) विश्वविद्यालयमें निम्नाङ्कित संस्थाएँ होंगी—

(अ) वैदिक विद्यालय

(आ) आयुर्वैदिक विद्यालय

(इ) स्थापत्य वेद व अर्थशास्त्र-विभाग

(ई) रसायन विभाग

(उ) शिल्प विभाग

(ऊ) कृषि विद्यालय

(ए) गन्धर्व वेद तथा ललितकला-विद्यालय

(ऐ) भाषा विद्यालय

(३) धर्मविज्ञान विद्यालय आदि—

उसी वर्ष बंगभंग हुआ। स्वदेशी आन्दोलन छिड़ गया और सन् १९०७ में जो चारों ओर विप्लवकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुए जिसमें हिन्दू विश्वविद्यालयके बहुतसे समर्थक भारतसे निर्वासित कर दिए गए या जेलोंमें ठूँस दिए गए। हिन्दू विश्वविद्यालयका विचार थोड़े दिनोंके लिये थपथपाकर सुला दिया गया। सन् १९११ में दरभंगा-नरेशका सनातन-

धर्म विद्यालय, डाक्टर एनीबेसेंटका थियोसोफ़िकल विश्वविद्यालय और मालवीयजीका हिन्दू विश्वविद्यालय तीनों आ मिले और हिन्दू विश्वविद्यालयकी झोली लेकर ये शिक्षा-महारथी निकल पड़े। समूचे भारतने इनका स्वागत किया और दो वर्षके भीतर भारतने इनकी थैलीमें एक करोड़से अधिक रुपया उदारता और श्रद्धासे डाल दिया।

सन् १९११ में जब विश्वविद्यालयकी नियमावली बनी तब उसमें हिन्दू विश्वविद्यालयके निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित हुए—

१—हिन्दुओंकी सर्वोत्कृष्ट विचारधारा और संस्कृति तथा भारतकी प्राचीन सभ्यताकी सभी लोकमङ्गलकारी और महान बातोंकी रक्षा करने और उनका प्रचार करनेके साधन स्वरूप हिन्दू शास्त्र और संस्कृत साहित्यके अध्ययन-को प्रोत्साहन देना।

२—ज्ञान-विज्ञान अथवा विद्या और शास्त्रोंकी सभी शाखाओं-के अध्ययन और उनके तात्त्विक विवेचनको आगे बढ़ाना।

३—आवश्यक व्यावहारिक शिक्षाके साथ ऐसी वैज्ञानिक, शिल्प-सम्बन्धी और व्यावसायिक विद्याओंको बढ़ाना और और उनका प्रचार करना जिनसे देशके देशी व्यवसायोंकी अभिवृद्धि हो और राष्ट्रकी धन-शक्ति बढ़े।

४—धर्म और सदाचारको शिक्षाका अवश्यक अंग बना-कर भारतके युवकोंमें चरित्रबल भरना।

इन उद्देश्योंसे अपनी शिक्षा-योजनाको अधिक उपयोगी

और प्रभावशाली बनाकर वह शिष्टमण्डल भारत भरमें घूमा जिसमें भिखारीसे लेकर राजाओं तकने अत्यन्त श्रद्धा और विश्वासके साथ दान दिया क्योंकि जिस गतिसे अँगरेजीपन हमारे जीवनमें प्रविष्ट होता चला जा रहा था उससे सभी सशंकित हो उठे थे और सभीकी यह इच्छा थी कि यदि योरोपका प्रवेश हमारे देशमें हो तो वह केवल अपने गुण लेकर ही हमारे घरमें पैठ सके, उसके दुर्गुण हमें स्पर्श न कर पावें। इस नई योजनाने इसी प्रकारका आश्वासन दिया था और उसी आश्वासनके आधारपर भारतकी सोई उदारता सहसा सावधान होकर जाग उठी थी। उस योजनामें मालवीयजीका मूल विचार ही यह था कि मातृभाषा हिन्दी तथा संस्कृतके द्वारा विश्वविद्यालयमें सब प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षा दी जाय। यह बात वार-वार सभी भाषणोंमें कही गई थी और इसी आधारपर भिक्षा भी माँगी गई थी किन्तु जब यूनिवर्सिटी चार्टर लेनेके सम्बन्धमें पूज्य मालवीयजी बड़े लाटके शिक्षामन्त्री सर हारकोर्ट बटलरसे मिले और अपनी यह योजना बताई तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'यदि इस संस्थामें मातृ-भाषा के द्वारा पढ़ानेकी व्यवस्था रही तो सरकारसे कोई आशा न रखिएगा क्योंकि जिस समयतक आप अँगरेजीमें लिखते-बोलते और पढ़ते-पढ़ाते हैं तबतक तो हमें शान्ति रहती है क्योंकि उस समयतक हम आपकी सब बातें और चालें भली-भाँति समझ सकते हैं और उसे सँभाल सकते हैं

पर जिस समय आप अपनी भाषामें काम करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिये कठिन हो जाता है। इसलिये मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी अनुमति सरकारसे किसी दशामें नहीं मिल सकती।' मालवीय.जी यह संकेत समझ गए और मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी बात उस समय टाल दी गई किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालयकी नियमावलीमें वह बात ज्योंकी त्यों बनी रही। श्रीशिवप्रसाद गुप्त सरकारी सहायता के बड़े विरोधी थे, वे किसी भी प्रकारसे सरकारका सहयोग नहीं चाहते थे और जब मालवीयजी महाराजने श्री शिवप्रसादजीसे कहा कि वाइसरायने विश्वविद्यालयको संरक्षण प्रदान करनेका वचन दिया है तो उनको बड़ा दुःख हुआ और हठात् उनके मुँहसे निकल पड़ा—'दिस इज़ दि डेथनैल् ऑफ़ दि हिन्दू यूनिवर्सिटी' (यह हिन्दू विश्वविद्यालयकी मृत्यु-घोषणा है)। उसी समय लाहौरकी विराट् सभामें लाला लाजपतरायने भी कहा था—'चार्टर ऑर नो चार्टर, हिन्दू यूनिवर्सिटी मस्ट एग्ज़िस्ट' (चाहे चार्टर मिले या न मिले पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनकर रहेगा)। अन्तमें १ अक्तूबर सन् १९१५ को हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल स्वीकृत हुआ और ४ फरवरी सन् १९१६ को वसन्तपंचमीके दिन गंगाजीके तटपर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयका शिलान्यास हुआ जिसमें देश भरके राजा-महाराज, नेता, धर्मगुरु, विद्वान बड़ी संख्यामें पधारे। उस उत्सवके विषयमें यह कहा जाता है कि सन् १९११ के

दिल्ली—दरबारके पश्चात् जैसा उत्सव विश्वविद्यालयके शिलान्यासके अवसरपर हुआ वैसा फिर कभी देखा नहीं गया। इसी समय श्रीमती डा० एनी बेसेंट, डा० भगवादास तथा सेंट्रल हिन्दू कालेजके ट्रस्टियोंने अत्यन्त उदारतापूर्वक अपनी संस्था काशी हिन्दू विश्वविद्यालयको अर्पित कर दी और सेण्ट्रल हिन्दू कालेज ही हिन्दू विश्वविद्यालयका पहला विद्यालय हुआ। फिर तो धीरे धीरे नगवा की १२०० एकड़ भूमिमें एक नगर सिर उठाने लगा। विशाल भवन एक एक करके अमराइयोंके बीचसे झाँकने लगे। २० मील लम्बी सड़कें बन गईं और अनेक विद्यालय, छात्रावास गुरु भवन और उपवन उसमें उदय हो होकर उस तपोवनकी शोभा बढ़ाने लगे।

इस नए गुरुकुल-संसारके पहले कुलपति हुए सर सुन्दरलाल, दूसरे हुए श्री शिवस्वामी ऐयर और तीसरे हुए स्वयं मालवीयजी और यहींसे उनका कुलपतित्व और और विश्वविद्यालयका स्वर्णयुग प्रारम्भ हुआ। कुलपतिकी व्याख्या मनुने की है—

"ऋषीणां दशसाहस्रं योऽन्नदानादि पोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥"

(जो विप्रर्षि दस सहस्र ऋषियोंको अन्न-वस्त्र देकर पढ़ावे लिखावे उसे कुलपति कहते हैं।)

यह सब होनेपर भी जो आदर्श मालवीयजी चाहते थे—

तपोनिष्ठ तेजस्वी छात्र, त्यागी विद्यासिद्ध विद्वान्, सात्विक-जीवन—वह न प्राप्त हो सका क्योंकि मालवीयजीको ठीक सहयोग न मिल सका। फिर भी यह विद्यालय भारतका क्या संसारका प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है और इसके स्नातकोंने भारत और भारतके बाहर प्रायः सभी क्षेत्रोंमें बड़ा यश और सम्मान पाया है। इसमें धर्मविज्ञान, प्राच्य विद्या, शास्त्र (आर्ट्स), विज्ञान, यन्त्र, संगीत, न्यायनीति, आयुर्वेद आदि अनेक विद्यालय और बहुतसे छात्रवास हैं जिनमें लगभग पाँच सहस्र छात्र पढ़ते और रहते हैं।

ऋषि-कुल-ब्रह्मचर्याश्रम-हरिद्वार

पूज्य मालवीजीके आदेशसे और श्रीदुर्गादत्त पंतके प्रयाससे हरिद्वारमें श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत-सनातन-धर्मके अनुसार ब्रह्मचर्य व्रतके साथ सनातनधर्मी बालकोंको प्राचीन गुरु कुलोंके वातावरणके अनुकूल शिक्षा देनेके निमित्त ऋषि-कुल ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना हुई थी। इस ब्रह्मचर्याश्रमका उद्देश्य यही था कि उसके द्वारा ऋषिकल्प, तपःपूत, तेजस्वी ब्रह्मचारी तैयार किए जायँ, किन्तु यहाँ भी अन्य विद्यालयोंके समान परीक्षाओंके लिये ब्रह्मचारियोंको शिक्षा दी जाने लगी। तपस्या, व्रत, नियमकी जो साधना प्राचीन गुरुकुलोंमें होती थी उसका अभाव होने लगा और जो दोष ऊपर गुरुकुलके बताए गए हैं वे ही ऋषिकुलमें भी व्याप्त हो गए। जबतक हमारे इन धार्मिक राष्ट्र-विद्यालयोंमें तपस्याकी भावना नहीं

भरती तबतक ऋषि-कुल और गुरुकुलकी स्थापनाका उद्देश्य सफल नहीं समझा जा सकता।

चिपलूणकर-पद्धति

सन् १८८० ई० में लोकमान्य तिलक, श्री आगरकर और श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकरके प्रयाससे पूनेमें 'न्यू इंगलिश स्कूल' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय शिक्षा देना था। सन् १८८५ ई० में इन्होंने सोचा कि एक समाज बना कर पूनेमें सार्वजनिक विद्यालय खोल दिया जाय। यही विद्यालय था फर्गुसन कालेज जिसमेंसे परांजपे, गोखले, करवे, तिलक जैसे बड़े बड़े नेता निकले।

चिपलूणकर-पद्धतिकी विशेषता यह थी कि इस पद्धतिके सब विद्यालय चन्दा देनेवालोंके द्वारा नहीं वरन् उन काम करनेवालोंके द्वारा ही व्यवस्थित होते हैं जो सेवा और आत्मत्यागका व्रत ले लेते हैं। इस संस्थाके द्वारा महाराष्ट्रके बड़े बड़े नेता, लेखक, साहित्यकार और देश-सेवक उत्पन्न हुऐ हैं।

सन् १९०५ ई० में श्री गोपालकृष्ण गोखलेने भारत-सेवक समिति (सर्वेन्ट्स औफ़ इण्डिया सोसाइटी) की स्थापना की जहाँ लोग कम वेतन लेकर सेवा करते थे। यह संस्था लोकप्रसिद्ध है और इसमें महामाननीय श्रीनिवास शास्त्री, तथा पं० हृदयनाथ कुंजरू प्रसिद्ध हैं। इस संस्थाका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन करनेके बदले राजनीतिक शिक्षा

देना है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्रके जैसे धुरंधर पंडित यहाँसे निकले उतने किसी दूसरी संस्था से नहीं।

आचार्य करवे

आचार्य करवेने दीन विधवाओंकी करुण-कथासे प्रभावित होकर उनके लिये एक छोटासा विद्यालय, छात्रावास, प्रारंभिक पाठशाला, माध्यमिक पाठशाला, और शिक्षण-कला-विद्यालय खोल दिया था। यह संस्था इतनी लोक-प्रिय हुई कि आचार्य करवेने यह निश्चय किया कि एक पाठ्य-क्रमके द्वारा कन्याओंको ऐसी उच्च शिक्षा क्यों न दी जाय कि १८ वर्षकी अवस्थासे पहले वे गृहिणी और माताकी सब शिक्षा प्राप्त कर सकें। इसी उद्देश्यसे सन् १९१६ ई० में 'इन्डियन विमेन्स यूनिवर्सिटी' ('भारतीय महिला-विश्वविद्यालय) की स्थापना हुई और पिछले ३२ वर्षोंमें इस संस्थासे कई सहस्र छात्राओंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है। आचार्य करवेकी इन संस्थाओंने मौन सामाजिक क्रान्ति भी की है और उनकी संस्थाओंके कारण दक्षिणकी महिलाओंमें बड़ी जागर्ति हुई। इस विश्वविद्यालयके उद्देश्य ये हैं—

१—वर्त्तमान भारतीय भाषाओंके माध्यमसे स्त्रियोंको उच्चतर शिक्षा देना।

२—महिलाओंकी आवश्यकताओंके अनुकूल पाठक्रम बनाना और पूर्ण विश्वविद्यालय-शिक्षाको नियमित करनेके

लिये नई संस्थाएँ स्थापित करना, चलाना और उन्हें सम्बद्ध करना।

३—प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयोंके लिये अध्यापिकाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध करना।

४—नियमानुसार उपाधि, प्रमाण-पत्र, पद तथा अन्य प्रकारके सम्मान प्रदान करना।

इस समय इस संस्थाके अन्तर्गत १६ संस्थाएँ काम कर रही हैं।

पूना सेवा-सदन

करवे बिश्वविद्यालयके अतिरिक्त न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडेकी पत्नी श्रीमती रमाबाईने प्रौढ़ महिलाओंके लिये सेवा-सदनकी स्थापना की थी जिसमें लिखने-पढ़ने और गणितके अतिरिक्त सीने-पिरोने और संगीतकी शिक्षा भी दी जाती थी। पीछे सर्वेन्ट्स औफ इण्डिया सोसाइटीके सदस्य श्रीदेवधरके प्रयाससे इसमें एक अध्यापिका-विद्यालय और एक हाई स्कूल भी खुल गया और अब यह संस्था दक्षिणमें महिलाओंके शिक्षाका प्रमुखकेन्द्र माना जाता है।

रैयत-शिक्षण-संस्था

सन् १६१६ ई० में श्रीभाऊराव पटेलने निम्नलिखित उद्देश्योंसे रैयत-शिक्षण-संस्था स्थापित की।

१—शुद्ध शिक्षा-सुधारके उद्देश्यसे भारतकी जागरण-शील पीढ़ीके लिये सामान्यतः तथा सतारा जनपदके निवा-सियोंके लिये विशेषतः प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा-प्रदान करना।

२—उपर्युक्त उद्देश्योंके लिये उपयुक्त अध्यापक तैयार करना।

३—ग्राम-सुधार तथा ग्रामोद्योगके लिये सेवक तैयार करना।

यह विद्यालय अत्यन्त सुन्दर स्थानमें नगरसे दूर बसा हुआ है जहाँ छोटे-छोटे भवन स्वयं छात्रोंने तैयार किए हैं। यहाँ खेती और बागबानीकी शिक्षा दी जाती है। यहाँ कोई भी वेतनभोगी कर्मचारी नहीं है। यहाँके सब लोग अनाज, तरकारी आदि स्वयं उत्पादन करते हैं। सब जाति और धर्मके विद्यार्थी एक साथ खाते-पीते, रहते और पढ़ते हैं। पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-बन्धुत्वकी दृष्टिसे यह विद्यालय आदर्श है। विद्या और शिक्षाके प्रसारके लिये इस संस्थाने बड़ा कार्य किया है।

बंगाल व्रताचारी-समाज

बंगालमें व्रताचारी-आन्दोलन भी एक प्रकारका राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन है। इसके कुछ विशेष आदर्श हैं और उन आदर्शोंको प्राप्त करनेके लिये एक व्यावहारिक क्रम है। व्रताचारी वह पुरुष है जो व्रत लेकर किसी आदर्शके

अनुकूल उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये शिक्षा ग्रहण करे। व्रताचारी प्रणालीका उद्देश्य है पूर्ण मनुष्य बनाना और इसीलिये इसके शिक्षा-क्रममें ऐसे विषय हैं जिनसे मनुष्यकी सब शक्तियोंका एक साथ और समवेत विकास हो। इस प्रणालीमें जाति, धर्म अवस्था और लिंगका कोई भेद नहीं है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको पाँच व्रत लेने पड़ते हैं—

ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनन्द। इस पंचांगी आदर्शको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक वयस्क ब्रह्मचारीके लिये सोलह सरल और उत्साहवर्धक प्रण करने पड़ते हैं और सत्रह निषेधोंका पालन करना पड़ता है। अल्पवयस्क व्रताचारीको बारह प्रण करने पड़ते हैं।

इस प्रणालीका मूल सिद्धान्त है बन्धुत्व जो गीतों, शारीरिक व्यायामोंके तालसे उत्पन्न होता है। इस तालसे शरीर और मन दोनोंकी शिक्षा होती है, जड़ता दूर हो जाती है, श्रमके लिये शक्ति और तेज प्राप्त होता है, विचार और क्रियामें संतोष और उत्साह मिलता है। अतः इस प्रणालीमें तालका बड़ा महत्त्व है। शारीरिक स्वस्थताके लिये अन्य व्यायामों-की अपेक्षा देशी खेल और ग्राम-नृत्योंको अधिक स्थान दिया गया है। इस आन्दोलनका मूल श्री जी० एस० दत्तके उन विस्तृत खोजोंमें है जो उन्होंने सन् १९२१ ई० और ३२ के बीच ग्राम-गीतोंके सम्बन्धमें की थी। यह आन्दोलन इतना अधिक लोक-प्रिय हुआ कि बंगालके बाहर भी ऐसी संस्थाएँ

खोली जाने लगीं।

इस प्रणालीके निम्नलिखित १६ प्रण हैं—

१—ज्ञानकी परिधि बढ़ाना।

२—जंगल और काई दूर करना।

३—श्रमका आदर करना।

४—तरकारी और फल उगाना।

५—प्रकाश और वायुकी स्वतंत्र गति।

६—पशु-पालन।

७—जल शुद्धि।

८—स्वच्छता।

९—शारीरिक व्यायाम और खेलकी वृद्धि।

१०—स्त्रियोंका उद्धार।

११—विवाहके पूर्व कमाना।

१२—हस्तकौशल या उद्योग सीखना।

१३—समय पालन करना।

१४—दूसरोंकी सेवा करना।

१५—बन्धुत्व और समान नागरिकताकी भावना बढ़ाना।

१६—आनन्दकी भावना बढ़ाना।

[महिलाओंके लिये ग्यारहवें प्रणके बदले होगा—शीलयुक्त व्यवहार]

अतिरिक्त प्रण

१—वस्तुएँ व्यर्थ न फेंकना।

२—परिपाटीका पालन करते हुए आगे बढ़ना।

३—नेताकी आज्ञा मानना।

४—आचार्यकी स्फूर्ति

निम्नलिखित सत्रह निषेध हैं—

१—धोतीका पल्ला नहीं लटकाऊँगा।

२—खिचड़ी भाषा नहीं बोलूँगा।

३—शरीर मोटा नहीं होने दूँगा।

४—बिना भूखके नहीं खाऊँगा।

५—आयसे अधिक व्यय नहीं करूँगा।

६—कोई भी विघ्न-बाधा आ पड़नेपर डरूँगा नहीं।

७—विलास-प्रिय नहीं बनूँगा।

८—क्रोध आनेपर भी क्रोध-प्रदर्शन नहीं करूँगा।

९—विपत्तिमें भी मुस्कराना नहीं भूलूँगा।

१०—अभिमानसे फूलूँगा नहीं।

११—विचार और भावमें भी असत्यता नहीं लाऊँगा।

१२—किसीसे दुःशील व्यवहार नहीं करूँगा।

१३—कभी भाग्य और दैवपर भरोसा नहीं करूँगा।

१४—बिना परिश्रम किए नहीं बैठूँगा।

१५—असफलतासे पराजित नहीं होऊँगा।

१६—जीविकाके लिये भिक्षा नहीं माँगूगा।

१७—अपने वचन नहीं तोड़ूँगा।

महिलाओंके लिये इन निषेधोंमेंसे एक और तीन संख्यक निषेध इस प्रकारसे होंगे—

१—किसीकी अत्यंत कोमलता और उपचारसे पिघ-लूँगी नहीं।

२—गृहस्थका काम छोड़कर इधर-उधरका काम नहीं करूँगी।

इसके अतिरिक्त और भी प्रवेश-संस्कारके समय स्वीकार किए जानेवाले नियम हैं। जैसे—एक बार से अधिक या आवश्यकतासे अधिक ऊँचे स्वरसे न बोलना, किसी प्रकार-के शारीरिक कार्यसे घृणा न करना या दूसरे पर अवलंबित न होना। प्रतिदिन कुछ न कुछ नया सीखना, कोई न कोई दोष नित्य छोड़ देना। अल्पवयस्क या छोबास ब्रताचारीके लिये निम्नलिखित बारह प्रण हैं—

१—मैं दौड़ूँगा, खेलूँगा और हँसूगा।

२—मैं सबसे प्रेम करूँगा।

३—मैं बड़ोंका कहना मानूँगा।

४—मैं पढ़ूँगा, लिखूँगा और सीखूँगा।

५—मैं जीवोंपर दया करूँगा।

६—मैं सत्य बोलूँगा।

७—मैं सत्य पथपर चलूँगा।

८—मैं अपने हाथसे सब वस्तुएँ बनाऊँगा।

९—मैं अपना शरीर दृढ़ करूँगा।

१०—मैं सदा अपने दलके लिए लड़ूँगा।

११—मैं अपने अंगोंसे श्रम करूँगा।

१२—मैं प्रसन्न होकर नाचूँगा।

इस प्रणालीकी प्रशंसा रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर राधाकृष्णन्, सर माइकेल सेडलर, श्रीमती सरोजनी नायडू आदि बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियोंने की है। किन्तु जहाँ इतने अधिक नियम हों, व्रत हों और प्रण हों उनका पालन करना सरल कार्य नहीं है।

मीरा शिक्षा समाज

सिन्धमें साधु टी० एल० वासवानीने सिन्धकी कन्याओंको भारतीय संस्कारमें अँग्रेजी शिक्षा देनेके लिये इस समाजकी स्थापना की। इसकी ओरसे सक्खर, हैदराबाद, सिन्ध और कराँचीमें अनेक बालकनजी वाड़ी (बाल-पाठशाला) और कन्या-पाठशालाएँ खोली गईं। पाकिस्तानके निर्माणने इन पाठशालाओंको बड़ा गहरा धक्का दिया और अब वे जैसे-तैसे जी रही हैं। योरोपीय आचार-व्यवहारको अपनानेवाली सिन्धी कन्याओंको भारतीय संस्कार देनेमें इस संस्थाने बड़ा सहयोग दिया है।

वनस्थली विद्यापीठ

जयपुर राज्यमें कन्याओंकी शिक्षाके लिये 'वनस्थली विद्यापीठ' नामसे एक संस्था खुली है जिसमें ७ वर्षसे ऊपरकी अविवाहिता कन्याएँ ली जाती हैं यद्यपि ऊपरकी कक्षाओंमें विवाहिता कन्याएँ भी ली जा सकती हैं। इसके शिक्षा क्रमकी रूप रेखा इस प्रकार है—

विद्यापीठका उद्देश्य छात्राओंको ऐसी शिक्षा देना है जिससे वे न केवल सफल गृहिणी और माता बल्कि जागरूक और सफल नागरिक भी बन सकें। इसी उद्देश्यसे भारतीय संस्कृति और विशुद्ध राष्ट्रियताके आधारपर विद्यापीठने पंचमुखी शिक्षाक्रमका निर्माण किया है, जिसके पाँच अंग इस प्रकार है—

(१) नैतिक शिक्षा

इसके द्वारा छात्राओंके चारित्र्य-निर्माणका प्रयत्न किया जाता है ।

(२) शारीरिक शिक्षा

इसमें विभिन्न प्रकारके व्यायाम, तैरना, घुड़सवारी, साइकिलसवारी आदि सम्मिलित हैं । इसका उद्देश्य छात्राओंको साहसी, स्फूर्तिवान और स्वस्थ बनाना है।

(३) गृहस्थ-शिक्षा

भोजन बनानेसे लेकर सीने, कसीदा करने और कातने तक घरके सब आवश्यक कामकाजका समावेश किया गया है, ताकि छात्राओंमें घरके और हाथके कामोंमें रुचि उत्पन्न हो सके।

(४) ललितकला-शिक्षा

इसमें चित्रकला और संगीतका समावेश किया गया है,

जिससे छात्राओंके जीवनमें सुरुचि, सौन्दर्य तथा माधुर्य उत्पन्न हो सके।

(५) पुस्तकीय शिक्षा

इसमें उन सब विषयोंकी शिक्षा दी जाती है जो छात्राके बौद्धिक विकास और ज्ञान-संपादनमें सहायक हो सकते हैं।

विद्यापीठका समूचा शिक्षाक्रम दो विभागोंमें बांटा गया है—

(१) संस्कृत-विभाग

इस विभागमें शिक्षाके पांचों अंगोंका विद्यापीठका अपना स्वतन्त्र पाठ्यक्रम है और वह १ से ८ कक्षाओंमें बाँटा गया है।

(२) बाह्य परीक्षा-विभाग

इस विभागमें पुस्तकीय शिक्षाका जहाँतक सम्बन्ध है, छात्राएँ प्रचलित हाई स्कूल, इन्टरमीजिएट तथा बी० ए० की परीक्षाओंके लिये तैयार की जाती हैं। शिक्षाके दूसरे चार अंगोंकी विद्यापीठकी अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था है।

उपर्युक्त परीक्षाओंके अतिरिक्त विद्यापीठमें जे० जे० स्कूल आफ आर्टस्, बम्बईकी ड्राइंग-चित्रकलाकी परीक्षाओं तथा निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी आयुर्वेदकी परीक्षाओंके लिये भी छात्राओं

को तैयार किया जाता है। भातखंडे यूनिवर्सिटी लखनऊकी संगीतकी परीक्षाओंके लिये भी छात्राओंको तैयार करनेकी व्यवस्था है।

इस पाठ्यक्रममें दो बड़े दोष हैं। एक तो यह कि महिलाओंके शारीरिक व्यायाममें घुड़सवारी आदि ऐसे व्यायाम हैं जो पुरुषोंके लिये ही उपयुक्त हैं, जिनसे कन्याओंकी स्वाभाविक कोमलता नष्ट हो जाती है। दूसरा महादोष यह है कि यहाँ भी अन्य विश्वविद्यालयों तथा बोर्डोंकी परीक्षाओंके लिये छात्राओंकी शिक्षा दी जाती है—यह एक प्रकारका ऐसा द्वैध है जिसका कोई समाधान और समर्थन नहीं किया जा सकता।

बड़ौदामें भी जो आर्य कन्या-विद्यालय है वहाँ भी जो कन्याओंको सैनिक शिक्षा दी जाती है और उन्हें नीला जाँघिया पहनाकर घुमाया जाता है—इसका भी किसी प्रकारसे समर्थन नहीं किया जा सकता। महिलाओंकी शिक्षाके संबंधमें शिक्षा-विशारदोंको स्वस्थ चित्तसे नीति-निर्धारण करनी चाहिए और तदनुसार देश भरमें उसी उद्देश्यसे शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था करनी चाहिए।

—***—

कुछ अन्य प्रकारके विद्यालय

पब्लिक स्कूल

धनी परिवारके बालकोंके लिये शुद्ध अंग्रेजी ढंगके कुछ आवास-विद्यालय खुले हैं जहाँ छात्र और अध्यापक एक साथ रहते हैं। जिन माता और पिताओंका यह विश्वास था कि हमारे पुत्र अंग्रेजोंके समान बोलें, अंग्रेजोंके समान पहने-ओढ़ें और अंग्रेजोंके समान आचरण करें वे अपने पुत्रोंको ऐसे विद्यालयोंमें भेज देते थे। देहरादूनका पब्लिक स्कूल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ भारतीय बच्चोंको अंग्रेजी ढंगसे खिलाया-पिलाया और रक्खा जाता है किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि वहाँ के बच्चोंके स्वास्थ्य, बौद्धिक विकास तथा सामाजिक योग्यताके लिये अधिक से अधिक अवसर और साधन उपस्थित किए जाते हैं।

इसीकी देखादेखी बिडला एजुकेशन ट्रस्टकी ओरसे नासिकमें त्र्यम्बक विद्यामन्दिर तथा नैनीतालमें पब्लिक स्कूल खोला गया है। जैसे देहरादूनके पब्लिक स्कूलमें समस्त वातावरण अंग्रेजी है वैसे ही इन विद्यालयोंका वातावरण भारतीय है। किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे विचार करनेपर ऐसे विद्यालयोंकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं

होती। शिक्षाके क्षेत्रमें धनी और निर्धनका भेद करना राष्ट्रीयताके विरुद्ध है। शिक्षा-मन्दिरमें कृष्ण और सुदामाको एक साथ पढ़ना चाहिए।

सबसे बड़ी भ्रामक बात तो इन विद्यालयोंका नाम है। इन्हें कहते हैं जनता-विद्यालय और ये हैं वास्तवमें रिचमैन्स स्कूल (धनी विद्यालय) फिर न जाने क्यों इन्हें जनता विद्यालय कहने की ढिठाई की जाती है। राज्य-शासनकी ओर से नियम बनाकर एसे वर्गीय विद्यालय बन्द कर देने चाहिएं। इन विद्यालयोंमें यह अवश्य है कि अध्यापक अच्छे होते हैं, उन्हें वेतन अच्छा मिलता है और वे परिश्रम भी अधिक कर सकते हैं। ऐसी सुविधाएँ यदि अन्य विद्यालयोंमें भी हों तो उनका परिणाम भी अच्छा हो सकता है इसमें कोई संदेह नहीं है।

थियसोफिक संस्थाएँ

श्रीमती डाक्टर एनीबेसेन्ट भी भारतकी प्रख्यात शिक्षाचार्य्या हो चुकी हैं। अंग्रेज महिला होते हुए भी इन्होंने भारतीय आचार-विचार और धर्म स्वीकार किया। थियासोफिकल सोसाइटीके साथ-साथ और उसके सहयोगसे देशके बड़े बड़े नगरोंमें, विशेषतः काशी तथा अड़ियार (मद्रास) में ऐसे शिक्षा-केन्द्र खोले जिनमें हिन्दू-संस्कृति और मानव-धर्मके आधारपर सब प्रकारकी शिक्षा दी जाय। काशीके सेन्ट्रल हिन्दू कौलेजने श्रीमती एनी-

बेसेन्टके अधीनमें बड़ी ख्याति प्राप्त की थी—यह संस्था भारतके प्रसिद्ध विद्वानोंकी धरणी बन गई थी और यहाँसे निकले हुए छात्रोंने सभी क्षेत्रोंमें बड़ा यश कमाया।

ऋषिवैली ट्रस्ट

कुछ थियासोफीके शिक्षा शास्त्रियोंने मिलकर एक नया ट्रस्ट स्थापित किया और राजघाट, काशीमें बसन्त कौलेज तथा स्कूलकी स्थापना की और ऐसा नियम रक्खा कि बिना किसी धार्मिक शिक्षाके ही नियमित जीवनके द्वारा विद्यार्थी धार्मिक हो सकते हैं। गगाजीके रम्य तटपर पुरानी काशीके खँडहरके पास, गंगा-वरुणाके संगमपर शुद्ध वन्य वातावरणमें यह विद्यालय बना हुआ है। स्वच्छता, सुन्दरता, कलात्मकता और शोभाकी दृष्टिसे यहाँका वातावरण आकर्षक है किन्तु किसी भी शिक्षा-केन्द्रमें चरित्र-बल और आत्म-बलकी जो उदात्त भावना होनी चाहिए वह भी है या नहीं—यह कहना सम्भव नहीं है।

कला-केन्द्र

यद्यपि प्रसिद्ध संगीत-मर्मज्ञ श्रीविष्णु दिगम्बरजीने बम्बईमें तथा भारतके और कई नगरोंमें संगीतके केन्द्र खोले थे किन्तु संगीत-शिक्षाके लिये व्यवस्थित योजनाका श्रेय श्री भातखण्डेजीके शिष्य रतनजानकरजीको है,

जिन्होंने लखनऊमें भारतीय संगीतका भारतखण्डे विश्वविद्यालय स्थापित कराया जिसमें संगीतकी उच्चतम शिक्षा दी जाती है और परीक्षा ली जाती है। जहाँतक शिक्षाकी बात है वहाँतक तो ठीक ही है किन्तु परीक्षा-प्रणालीने उसका महत्त्व कम कर दिया है और यही कारण है कि वहाँसे निकला हुआ एक भी स्नातक ऐसा नहीं है जिसने श्री विष्णुदिगम्बर, भातखण्डे, फैयाजखाँ आदिके समान कीर्ति कमाई हो। उसका कारण यही है कि भारतीय-संगीत-शास्त्रके अनुसार संगीत-साधकको जिस ब्रह्मचर्य, प्राणायाम और आत्म-शुद्धिके साथ स्वर और लयकी साधना करनी चाहिए उसका यहाँ नितान्त अभाव है। लोग परीक्षाके लिये और उपाधिके लिये संगीत सीखते हैं पर संगीतके लिये संगीत नहीं सीखते हैं। यह प्रयास तबतक व्यर्थ है जबतक वह शुद्ध शास्त्रीय आचारके साथ नहीं सीखा जाता।

प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकरने भी अलमोड़ाके पास अपना कला-केन्द्र स्थापित किया था जिसमें वे भारतीय नृत्यकी शिक्षा देते थे किन्तु वह बहुत दिन नहीं चल पाया क्योंकि उदयशंकर व्यवसायी व्यक्ति हैं और व्यवसायी व्यक्ति शिक्षण-संस्था नहीं चला सकते।

ताल-युक्त-व्यायाम (यूरिदमिक्स)

यों तो पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके लिये क्रमशः ताण्डव

और लास्यकी क्रियाएँ शरीरमें स्फूर्ति देने और शरीरको सुन्दर बनानेमें अत्यन्त योग देती हैं किन्तु विद्यालयके वातावरणको अधिक नियमित, संगीत-मय और तालमय करनेके लिये एक नई प्रणाली चली है ताल-युक्त व्यायामकी, जिसमें छात्रोंका एक दल ढोल और बाजे बजाता है और विद्यालयके सब छात्र सामूहिक रूपसे उसके साथ गाते और व्यायाम करते हैं। कभी-कभी ग्रामोफोन मशीनमें किसी गतका रेकार्ड लगा दिया जाता है और सब विद्यार्थी तद-नुसार या तो पैर मिलाकर तालके साथ चलते हैं या आंगिक-व्यायाम करते हैं। इस प्रकारके व्यायामसे संगीतका भी आनन्द चलता रहता है और शरीरकी चेष्टाएँ भी तालसे बँध जाती हैं। इस प्रकारके व्यायाम चलानेसे बालकोंकी अरुचि भी दूर हो सकती है और घरके वातावरणकी स्मृति भी दूर हो सकती है।

वर्धा-शिक्षा-योजना

२२ और २३ अक्टूबर सन् १९३७ ई० को वर्धाके मार-वाड़ी हाई स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) में महात्मा गांधीके सभापतित्वमें भारतके शिक्षण-शास्त्रियोंकी एक सभा हुई जिसमें उन्होंने अपनी शिक्षा योजना उपस्थित की। उनके अनुसार यह योजना (१) मुख्यतः गाँवोंके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा अधिक शिक्षाका अभाव है (२) इसका उद्देश्य यह है कि काम चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञान तथा

किसी उपयोग कौशलका ज्ञान कराया जाय (३) यह शिक्षा कर-दाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो (४) इसके द्वारा गाँवोंको छोड़कर नगरोंमें जाकर बसनेकी प्रवृत्ति रोकी जाय।

इस योजनाकी विशेषता यह है इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षाका एक मूल हस्त-कौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्त-कौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्त-कौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगिरी इत्यादि अनेक हस्त-कौशल आ सकते हैं। यह योजना पेस्तालौजी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

जब सन् १९३७ में सात प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई थी उस समय तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीको बदलनेकी व्यवस्था भी की गई और प्रत्येक प्रान्तमें वर्धा शिक्षा योजना भारतके चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे अपनाई गई थी—१ दरिद्रता, २ निरक्षरता, ३ परतन्त्रता और ४ स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलंबित करके बनाई गई—१, स्वयं-शिक्षा (औटो एजुकेशन) २, करना और सीखना (लर्निंग बाईडुइंग), ३, आवयविक शिक्षा (सैन्स ट्रेनिंग) ४, श्रमका आदर (डिगनिटी औफ़ लेबर)। इनको ध्यानमें रखकर इस प्रणाली

के चार अंग भी निर्धारित किए गए—

१—अनिवार्य शिक्षा, २, मातृ भाषाके द्वारा, ३, किसी हस्त कौशलपर अवलंबित तथा ४, स्वावलम्बी।

हस्त-कौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि केवल वही हस्त-कौशल शिक्षाका आधार बनाया जाय जिसमें अधिकसे अधिक शिक्षाकी संभावनाएँ निहित हों अर्थात् जिसके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र), संगीत, हस्तकौशल तथा व्यायाम। मानव मात्रके उपयोगमें आने वाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें आ गया। किन्तु जो पाठन-समयकी अवधि बनाई गई वह इतनी विषम थी कि आधे समयमें हस्त कौशल रक्खा गया और आधेसे कममें शेष अन्य विषय।

शिमलेका निर्णय

इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता और इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने मात्रसे तो संतोष नहीं हुआ क्योंकि

तीन घंटे बीस मिनटतक चरखा चलाना या अन्य हस्त-कौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञानके सभी सिद्धांतोंके प्रतिकूल है। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है । इसी लिये युक्तप्रान्तमें आधार शिक्षा या बुनियादी तालीम और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर योजनाके नामसे जब वर्धा प्रणाली चलाई गई तो उन्होंने हस्त-कौशलकी अवधि कम कर दी।

कई वर्ष अनुभव करनेके पश्चात् उसके पक्ष और विपक्षके रूप अत्यंत स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं।

पक्ष

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें अन्तर आ गया है। नीरस कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके बेल-बूटे और चित्र बने दिखाई देते हैं। उसमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसके प्रति एक प्रकारकी ममता होती है, अपनी नूतन रचना अथवा अपने बनाए हुए चित्रसे बालकोंके मुखपर स्वनिर्मितिका गौरव—पूर्ण उल्लास और उत्साह भी दिखाई देता है। उनकी निष्क्रिय उँगलियोंमें कलापूर्ण सक्रियताकी स्वस्थ चहल-पहल दिखाई देती है। रटने-घोखनेका रोग दूर होता जा रहा है और इससे छात्रोंमें वह आतंक नहीं दिखाई देता जो किसी समय इन पाठशालाओंका विशेष शृंगार था।

मातृभाषामें शिक्षा होनेसे उनका ज्ञान अधिक वेगसे बढ़ रहा है और विदेशी भाषापर अधिकार प्राप्त करनेके अति-प्रयासमें जो समय और शक्ति नष्ट होती थी वह दूसरे कामोंके लिये बच गई है।

अध्यापकको भी थोड़ा विश्राम मिल गया है। वह भी उतना व्यग्र और व्यस्त नहीं दिखाई देता जितना पहले था।

विपक्ष

यह सब होते हुए भी तनिक भीतर प्रवेश करनेपर उसमें निष्पक्ष दृष्टिसे आँख गड़ाकर देखनेसे ज्ञात होगा कि हमने जिस स्वर्गके निर्माणके लिये प्रासाद खड़ा किया था उसके निर्माणके पूर्व ही उसपर दानवोंने अधिकार कर लिया है। सबसे पहला दोष तो यह आ रहा है कि विनय और शील जो मानव शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं वे अत्यन्त निर्ममताके साथ तोड़कर गिराए जा रहे हैं। छात्रोंमें उद्दण्डता, असहनशीलता और उच्छृंखलता बढ़ रही है। वे हस्तकौशलका काम करते अवश्य हैं किन्तु अधिकांश बालकोंकी उधर रुचि नहीं है, क्योंकि हमारे देशकी अधिकांश जनता गाँवोंमें रहती है और प्रत्येक छोटे बड़ेको अपने सब काम अपने हाथ करने पड़ते हैं। घरमें जो बालक प्रातःकाल सानी-पानी करके आया होगा वह चरखे के चरखेमें पड़कर ऊबेगा नहीं तो क्या होगा और फिर

यह हस्त-कौशलका चरखा ,विधिका चक्र बनकर पाठशालाके सभी घंटोंमें उसके सिरपर घूमता है क्योंकि भाषा, इतिहास, गणित, संगीत सभी विषयोंका पाठ उसी हस्त-कौशलसे प्रारम्भ होता है और उसीसे उनका अन्त हो जाता है। किसीको भी पागल कर डालनेके लिये इससे बढ़कर और क्या उपाय हो सकता है। जान पड़ता है इस योजनाके स्रष्टाओं तथा पोषकोंने 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का पाठ कहीं पढ़ा या सुना नहीं है।

सामग्रीका विनाश

एक ओर हम समूचे समाजको 'पाई पाई बचाओ' "कुछ नष्ट न करो' का उपदेश देते हैं, दूसरी ओर हम देख रहे हैं कि हमारे इन नये विद्यालयोंमें सूत. रूई, लकड़ी, कागज, कार्ड बोर्ड आदिका इतना अपव्यय हो रहा है कि उसे देखकर अपने देशकी दरिद्रतामें तनिक भी विश्वास करनेका मन नहीं करता। शिक्षा-केन्द्रोंसे तीन तीन महीनेमें कला-कौशलके महापंडित बनकर निकले हुए अध्यापक गण जो परिमित ज्ञान लेकर आते हैं बस वही ज्यों का त्यों अपने छात्रोंको सिखा देते हैं। युक्तप्रान्तमें, मध्य देशमें जहाँ चाहे चले जाइए चित्र एकसे, कागजके खिलौने एकसे, लकड़ीके निर्माण भी एकसे और वे सब भी ऐसे हैं जिनका भारतीय जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। विलायतसे हस्त कौशलकी शिक्षा प्राप्त हुए महाचार्योंने तश्तरी, दियासलाईकी

डिबिया, चौकोर या अठपहलू डलिया, अंगरेजी चालका गिरजाघरके ढंगका घर, पत्र रखनेका बटुआ आदि बनाना सिखलाया है। गाँवके लोग इन्हें लेकर क्या करेंगे। यदि झोपड़ीके कुछ रूप समझाए गए होते, खटिया बुनना, खाट सालाना, चौकी, पीढ़ा या मसालेकी चौकड़ी बनाना सिखाया जाता, रस्सी या चर्खा करघा बनाना सिखाया गया होता जिनका उनके जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तो उन्हें लाभ भी होता और उनके व्यावासायिक जीवनके चुनावमें भी सहायता मिलती।

परीक्षाका भूत

और फिर सबसे बड़ा भूत तो परीक्षा का हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। हमारी सम्पूर्ण शिक्षाका केन्द्र तो परीक्षा है। हम जो कुछ पढ़ते हैं या पढ़ाते हैं सब परीक्षाके लिये, क्योंकि समाज यही चाहता है और शिक्षा-विभाग भी यही चाहता है कि छात्रोंकी अधिकसे अधिक संख्या परीक्षामें उत्तीर्ण हों परीक्षाफलसे ही अध्यापककी योग्यता और सफलता आँकी जाती है अतः जबतक यह परीक्षा हमारी प्रणालीमें कृत्या बनकर बैठी रहेगी तबतक हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता।

फिर इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका अत्यन्ताभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा दी जानी चाहिए उसीका अभाव इसमें आद्यन्त खटकता है। यदि

नैतिक शिक्षाकी हमने व्यवस्था नहीं की तो हमारी शिक्षा योजनाका प्रयोजन ही क्या हुआ। अतः वर्तमान शिक्षा-शास्त्रियोंको या यों कहिए कि शिक्षा-मंत्रियोंको बड़ी गंभीरता-से इन प्रश्नोंपर विचार करके नई शिक्षा प्रणालीका स्वरूप स्थिर करना चाहिए क्योंकि यही ऐसा युग है जिसमें हमारा भविष्य बन रहा है और यदि तनिक भी चूक जायँगे तो हमारी भावी सन्तान हमारी मूर्खताओंकी खिल्ली उड़ायगी और जो कुछ हम इस समय कर जायँगे उसे बदलना या उसमें आमूल परिवर्त्तन कर देना भी उनके लिये सुगम नहीं होगा। स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षा ही हमारे धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक जीवनकी नींव है। उसे दृढ़ करनेमें कोई कमी नहीं छोड़नी चाहिए।

—****—

सयानोंकी शिक्षा

हमारे देशमें अनिवार्य शिक्षा न होनेके कारण अभी लगभग बानबे प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। इस समय देशमें एक सांस्कृतिक और राजनीतिक जागर्त्ति हुई है किन्तु शिक्षाकी कमीके कारण उस जागर्त्तिका न तो वास्तविक उपयोग किया जा सकता है न उसे चिरस्थायी बनाया जा सकता है। वह जागर्त्ति झंझाके समान प्रबल तो है किन्तु उतनी ही अस्थिर भी है। उसका कारण यही है कि उसमें शिक्षाका अभाव है।

राजनीति-विचक्षणोंका विचार है कि प्रत्येक सयानेमें पाँच प्रकारके भाव होने चाहिएँ—:

१. भाषाका भाव—सामाजिक जीवनमें कमसे कम लिखने-पढ़नेकी जितनी आवश्यकता पड़ती है उतना ज्ञान अवश्य हो अर्थात् अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखनेका ज्ञान तथा अपने भाव उचित भाषामें प्रकट कर सकनेका ज्ञान हो।

२. नागरिकताका भाव—अपने गाँव या नगरके राज्य-कर्मचारियोंसे सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा, और सड़क, रेल तथा डाकके साधारण नियमोंसे परिचय हो।

३. स्वास्थ्य-भाव-अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ

रखना, आकस्मिक चोट लगने या बीमार होनेपर तात्कालिक कर्त्तव्य जानना, नशेबाजीसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव—अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रय-स्थानोंका ज्ञान हो। खेतसे या खेतके बाहर उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे क्या लाभ उठाया जा सकता है इसका ज्ञान हो। अपना हिसाब-किताब रखने तथा आमदनीसे अधिक खर्च न करनेकी बुद्धि हो।

५, देशभक्तिका भाव।

उपर्युक्त भावोंको पुष्ट और उन्नत बनानेके लिये सयानोंको दो प्रकारसे शिक्षा देनी चाहिए—एक तो कक्षा-प्रणाली द्वारा और दूसरे प्रचार-द्वारा। भाषा सिखानेके लिये तो कक्षा-प्रणालीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु कक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करनेसे पूर्व सयानोंकी मनोवृत्ति, भारतकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंका ध्यान रखना भी अपेक्षित है। सयानोंको शिक्षा देनेवालोंको नीचे लिखी बातें समझ लेनी चाहिएँ।

१—सयानेको बालक न समझो, वह निरा अबोध नहीं होता। उसने अनुभव तथा सम्पर्कसे बहुतसा ऐसा ज्ञान संचित कर लिया है जो संभवतः उनका अध्यापक भी न जानता होगा। उसकी बुद्धि पक गई है, उसकी विचार-धारा नियमित हो चुकी है, उसके संस्कार बन चुके हैं। अतः उसकी बुद्धि, विचारधारा और संस्कारको माँजने भरकी

कसर है। उसे सैकड़ों, हजारों दोहे और चौपाई कण्ठस्थ हैं। उसे अक्षर-ज्ञान करा दीजिए, उसकी स्मृति और मेधा स्वयं अपनी सामग्री जुटा लेंगी।

२—वह सामाजिक प्राणी हो गया है, उसे अपनेसे छोटे लोगोंकी कक्षामें बैठनेमें लज्जा लगती है, संकोच होता है। अवस्थामें या पदमें अपनेसे छोटे व्यक्तिको भाषा-ज्ञानमें उन्नत होते देखकर वह भाग खड़ा हो सकता है।

३—भारत दीन देश है। उसके पास पेट भरनेके साधन भी नहीं हैं। वह पढ़ाईके लिये पैसा कहाँसे लावे। करदाता पहलेसे ही बोझसे दबे हैं, उन्हें और दबाना अन्याय है।

४—हमारे देशमें अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। सबकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सीताराम रटता है तो दूसरा राधेश्याम जपता है।

५—ऊँची जातिके लोग छोटी जातिके अध्यापकोंसे पढ़ना बुरा समझते हैं।

६—हमारे देशके किसानको वर्षमें केवल पन्द्रह दिनकी छुट्टी तब मिलती है जब वह अनाज काटकर घरमें रख चुकता है। और उन दिनों वह ब्याह-बरातमें फँसा रहता है दिन भर काम करके सन्ध्या समय वह पढ़नेमें जी नहीं लगा सकता।

७—सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय पर्वों और उत्सवोंके कारण यह सन्ध्याकी पढ़ाई भी निरन्तर अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। सयाने लोग दस दिनसे अधिक कक्षा-प्रणालीमें नहीं ठहर सकते। उन्हें शीघ्र ज्ञानकी

आवश्यकता है। वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते।

सयनोंको भाषा-शिक्षा देनेके कुछ नियम

सयानोंकी पाठशालाओंमें शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंकी सुगमताके लिये निम्नाङ्कित बातें जाननी परमावश्यक हैं।

क. जमीनपर बालू बिछाकर उँगली या लकड़ीसे अक्षरका ज्ञान कराना।

ख. व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंका संग्रहकर उनका उपयोग करनेकी शैली बताना।

ग. पढ़ना सिखाना।

(१) अक्षर-ज्ञान हो जानेपर ऐसी पुस्तकें उनके सामने रक्खी जायँ जिन्हें वे जानते हों या कमसे-कम जिनके नामसे वे परिचित हों जैसे रामायण, हनुमान-चालीसा आदि।

(२) सरणी बनाकर ऐसे शब्दोंके आकार-प्रकारसे उन्हें परिचित करा देना चाहिए जिन्हें वे पहलेसे जान चुके हों विशेषतः ऐसे शब्दोंकी ओर उनका ध्यान अवश्य दिलाना चाहिए जो उनके दैनिक कार्य—व्यवहारमें आते हों जैसे देवताओं, महापुरुषों, दिन-मासोंके नामादि।

घ—प्रौढ़ोंके लिये पुस्तकालय या वाचनालय विशेष हितकर नहीं सिद्ध हो सकते क्योंकि उनके पास इतना समय ही कहाँ है। रामायण ही उनका पुस्तकालय हो जो सदा उनके साथमें रहे और जिससे वे जंगम पुस्तकालयका काम ले सकें। वाचनालयोंकी व्याधिसे उन्हें बचाना होगा

कारण यह कि आज जैसी सिद्धान्तहीन पत्र-पत्रिकाएँ अपना प्रचार मात्र करनेके लिये निकाली जा रही हैं उनके पढ़नेसे मानव-समाज अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकता। दूसरे हमारे पारस्परिक विद्रोहके कारणोंमें ये पत्र भी एक कारण हैं।

ङ—सङ्गीत तो जीवनमें आनन्द लानेके लिये बड़ी ही अद्भुत वस्तु है। प्राचीन पद्धतिकी तरह यदि उन्हें ढोल और झाँझपर भजन आदि गानेको प्रवृत्त कर सकें तो इससे उनका बहुत हित हो सकता है।

स्थानीय उत्सवोंकी व्यवस्था

च—जिस स्थानमें प्रौढ़ पाठशाला हो वहाँके उत्सवोंपर ध्यान रखना होगा। जिस व्रत या उत्सवका समय आवे उसका रहस्य बताकर उसकी विधि भी बतानी चाहिए और जो उसमें कोई तात्कालिक दोष आगए हों उन्हें उनकी सम्मतिके अनुसार परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न भी करना-कराना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारे इस कामसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी चोट पहुँचे। इस अवसरपर शिक्षकको अपने विचारोंकी छाप उन लोगोंपर नहीं डालनी चाहिए। जैसी उनकी संस्कृति या प्रवृत्ति हो तदनुसार ही उसमें संशोधन या परिवर्द्धन उचित होगा।

व्याख्यानसे अधिक रुचिकर एवं हितकर पुराणों एवं शास्त्रोंकी कथा वार्त्ता एवं प्रवचन होंगे। यद्यपि नगरोंकी

हवा कुछ बदल सी गई है पर देहात अभी बहुत कुछ प्राचीनतासे बँधे हैं। उन्हें पुराणोंकी कथा बड़ी प्रिय एवं रुचिकर होती है। हाँ, इस कार्यमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि जो कथावाचक हों वे उसके पूर्ण मर्मज्ञ और अपने भावोंको प्रकट करनेमें कुशल कलाकार हों। साथ ही उनका चरित्र बड़ा स्वच्छ एवं सरल हो जिसका प्रतिबिम्ब उनके हृदयपर पवित्र पड़े। उत्सवों या कथाओंमें हमें एक बातका ध्यान रखना होगा कि वहाँके किसी प्रकारके व्यवहारसे किसीकी जातिगत या व्यक्तिगत भावनाओंको किसी प्रकारकी चोट न लग पावे।

छ—सयानोंको इतनी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे पूर्ण नागरिक बन जायँ अर्थात् वे बोलने एवं लिख लेनेमें किसी प्रकारका संकोच न कर सकें। कहीं उन्हें ऐसा न प्रतीत हो कि मैं बोल नहीं सकता या लिख नहीं सकता। वे अपने जीवन-संग्राममें एक वीरकी तरह उन्नतमना होकर सफल कहे जायँ। ऐसा न हो कि उन्हें स्टेशनों, डाकखानों, बैङ्कों या कचहरियोंमें अपना काम कर लेनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई या जानकारीकी कमीका अनुभव करना पड़े।

युक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तके शिक्षा-विभागोंने सयानोंकी शिक्षाके लिये कई सामूहिक आन्दोलन किए, विशेष रूपसे युक्तप्रान्तमें पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदीके प्रबन्धसे साक्षरता दिवस मनाए गए जिससे देश भरमें बड़ी जागर्त्ति हुई और बहुसंख्यक लोगोंने लिखना-पढ़ना सीखा किन्तु

अधिकांश खेतिहर होनेके कारण लोगोंको इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे इसके लिये अधिक समय दें। यही कारण है कि सयानोंकी शिक्षा अधिक सफल नहीं हो पाई और सरकारकी ओरसे भी जो सरकारी प्रौढ़ पाठशालाएँ खोली गई थीं वे विडम्बना-मात्र रहीं। जबतक सरकार अनिवार्य रूपसे सबको शिक्षित करनेकी व्यवस्था नहीं करती तबतक अन्य सब प्रयास हाथीको चम्मचसे जल पिलानेके समान निरर्थक होंगे।

विकलांगोंकी शिक्षा

हमारे देशमें छः लाखसे ऊपर अन्धे, लगभग ढाई लाख गूँगे, ढाई लाख ही बहरे और लगभग बारह लाख ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रकारसे विकलाङ्ग हैं। अन्य सभी सभ्य देशोंमें इनके लिये अत्यन्त व्यवस्थित विद्यालय हैं जहाँ ये विकलांग लोग जनतापर भार न होकर स्वयं लिख-पढ़कर अथवा किसी हस्त-कौशलके द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं। भारतमें करांची, लाहौर, दिल्ली, पटना और बम्बईमें इस प्रकारके विद्यालय हैं जहाँ ब्रेल-पद्धतिसे अन्धोंको पढ़ना सिखाया जाता है, और हस्तकौशल तथा संगीतकी शिक्षा भी दी जाती है। किन्तु उचित तो यह है कि यह व्यवस्था सरकार अपने हाथमें ले ले और उचित केन्द्रोंमें इस प्रकारके विकलांगोंको अनिवार्य रूपसे शिक्षा देकर उनका जीवन सफल करे और राष्ट्रकी शक्ति बढ़ावे।

—****—

मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ

कुशाग्र बच्चोंको छाँटनेकी महत्ता

जाति-निर्माणकी दृष्टिसे विशेष बुद्धिसम्पन्न बालकोंको पहलेसे ही छाँटकर उनकी विशेष बुद्धिके अनुसार शिक्षा देना तथा उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और वातावरण आदिका समुचित प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है। क्योंकि वास्तवमें ये ही लोग बड़े होनेपर देशके नेता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलाविद, राजनीतिज्ञ, शासक तथा सेनानायक इत्यादि हो सकते हैं। अब जब कि भारतीयोंको पूर्ण रूपसे समुन्नत होनेका अवसर धीरे-धीरे मिल रहा है तब यह और भी अधिक आवश्यक है कि हम वास्तविक विशेष बुद्धिशाली बच्चोंको छाँटकर उन्हें उचित शिक्षा और उपदेश देकर उन्नत होनेका क्षेत्र और अवसर प्रदान करें।

स्कूलकी परीक्षाएँ भरोसे योग्य नहीं।

इस सम्बन्धमें स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि क्या स्कूलकी परीक्षाओंसे बच्चोंकी बुद्धिका यथार्थतः परिज्ञान हो सकता है? यदि नहीं होता तो प्रश्न यह उठता है कि सब वस्तुओंके यथार्थ और सावधान मापनके युगमें बुद्धि मापनेके लिये क्या उपाय किया जा रहा है?

पहले प्रश्नका उत्तर तो निषेधात्मक है । स्कूल अथवा सर्वसाधारण परीक्षाएँ स्वाभाविक बुद्धिकी परीक्षा न करके अर्जित ज्ञानकी परीक्षा लेती हैं । मनोवैज्ञानिक परीक्षाओंसे यह प्रमाणित होता है कि कुशाग्र बुद्धिवाले बच्चोंको स्कूलवाले ठीक समझ नहीं पाते । टरमनने ऐसे सौ बच्चोंकी परीक्षा करके यह फल निकाला कि उनमेंसे अधिकांश बच्चे अपनी बुद्धिके परिमाणकी तुलनामें नीची कक्षामें पड़े हुए थे । प्रायः एक तिहाई बालकोंको स्वाभाविक बुद्धि होते हुए भी एक दो कक्षा आगे जानेकी आज्ञा नहीं मिली । यहाँतक देखनेमें आया कि कोई-कोई विशेष बुद्धिशाली बालक अधिक सरल कार्यको अधिक समयतक करते-करते शिथिल भी हो जाते हैं ।

मनोवैज्ञानिकोंके द्वारा निकाले हुए परिणामका समर्थन हमारे स्वतः अनुभवसे ही हो जाता है । स्कूल अथवा कालेजका तेज लड़का जीवनमें सदा अधिक सफल नहीं होता और जो लड़के वहाँ साधारण श्रेणीके समझे जाते हैं वे अपने सामाजिक जीवनमें सदा सामान्य नहीं रहते । हम जानते हैं कि क्लाइव स्कूलके लिये व्याधि था, नेलसन भी कुछ कम न था और कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी अपने स्कूल-जीवनसे ऊब ही गए थे । स्कूल और कालेजकी शिक्षा-प्रणाली न तो विशेष बुद्धिशाली बालकोंको छाँट ही सकती है, न उनकी सहायता ही कर सकती है । बहुतसे व्यक्ति जो अपनी बुद्धिके बलपर अनेकों वृत्तियोंमें

उच्चतम पदपर पहुँच गए हैं, उन्होंने स्कूलके कमरेमें कोई विशेषता नहीं दिखलाई थी। अपने अनुभवके दो उदाहरण हमारे सम्मुख है। सर तेजबहादुर सप्रू स्कूलमें बहुत साधारण श्रेणीके विद्यार्थी थे और स्वर्गीय सर सुन्दरलालका कालेजमें केवल 'सन्तोषजनक' ही जीवन रहा परन्तु वे निकले अत्यन्त प्रभावशाली। आजकलके कितने धनकुबेरों, व्यवसायी नेताओं, दार्शनिकों अथवा आन्दोलनोंके नेताओंका स्कूल अथवा यूनिवर्सिटी जीवन विशेषतापूर्ण रहा है?

इन सब अनुभवोंसे यह निर्विवाद परिणाम निकलता है कि स्कूल अथवा कालेजके संचालक तथा अधिकारी प्रारम्भिक कालमें ही बच्चेकी वास्तविक महत्ताको मापनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं।

बुद्धि परीक्षाएँ

इसलिये मनोवैज्ञानिक इस प्रश्नको हल करनेके लिये तथा बच्चोंकी स्वाभाविक बुद्धि मापनेके सर्वश्रेष्ठ उपाय खोज निकालनेमें बड़े व्यस्त थे। लाखों बच्चोंके अनुभव तथा उनकी परीक्षा करके कुछ परीक्षाएँ निर्धारित की गई हैं। इनमसे सर्वश्रेष्ठ हैं—(१) व्यक्तिगत परीक्षाके योग्य साइमन और बिनेकी परीक्षाओंकी स्टेनफर्ड आवृत्ति और विस्तार तथा (२) पल्फा परीक्षा अथवा समूह परीक्षा—जो सेना तथा पुलिसमें रंगरूटोंकी परीक्षाके लिये तथा

विभिन्न व्यवसायोंमें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी योग्यता अथवा अयोग्यताकी परीक्षाके लिये अमरीकामें अधिक व्यवहृत होता है। इनके सिवाय सिंप्लेक्स, नेशनेल, ओटिस और नौर्थम्बरलैण्ड नामक परीक्षाएँ हैं। माता-पिता और अध्यापक इनको सफलतापूर्वक नहीं प्रयोग कर सकते। उपर्युक्त निर्धारित परीक्षाएँ कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित हैं। यदि इनमें से कुछ आपके सम्मुख उपस्थित की जायँ तो उनको देखते ही आप कहेंगे कि इनका प्रयोग तो माता-पिता, बड़े भाई, बहन तथा अध्यापक सभी कर सकते हैं। किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। नियत प्रणालीमें तनिक भी भेद हो जानेसे परिणाम उलटा हो जाता है। माता-पिता अपने बालकोंसे कुछ विशेष परिणाम प्राप्त करानेके लिये उत्सुक होते हैं और वे अपने चेहरेकी मुद्रा अथवा भावभंगीसे परीक्षार्थीको इच्छित उत्तर सुझा देते हैं। अध्यापककी भी कुछ अपनी पूर्वसंचित धारणाएँ रहती हैं और फिर वह मनोवैज्ञानिक भी तो नहीं होता! इन परीक्षाओंके प्रश्नोंका प्रत्येक शब्द प्रामाणिक हो गया है और उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिये यूरोप और अमरीकामें मनोवैज्ञानिकोंकी एक नई वृत्ति उत्पन्न हो गई है, जिनका कार्य स्कूलके बच्चोंकी परीक्षा करना तथा उनके लिये उचित बुद्धि-संबंधी चिकित्साका निर्देश करना होता है। वे नौकरीके इच्छुक व्यक्तियोंकी परीक्षाके लिये तथा उनमें से प्रत्येककी बुद्धिका यथार्थ ज्ञान

प्राप्त करनेके लिये भी रक्खे जाते हैं। वे उसी प्रकार सम्मति देनेके लिये बुलाए जाते हैं जैसे वैद्य। व्यवसायी तथा मजदूरोंको नौकर रखने वाले मालिक किसी भी व्यक्ति को यों ही रख लेने, उसको उस कार्यके योग्य बनानेकी शिक्षा देनेमें समय और शक्तिका अपव्यय करने और कुछ महीनोंके पश्चात् उसको उस पदके योग्य न जानकर उसे कोई नीचा पद दे देनेकी अपेक्षा एक मनोवैज्ञानिकको करारी फीस देकर यह जान लेना अधिक सस्ता समझते हैं कि किसी विशेष पदके लिये कौन व्यक्ति अधिक उपयुक्त है।

माता-पिता और अभिभावकोंको भी इसमें लाभ है कि उनके आश्रित बालकोंकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा हो जाय और मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार उनको शिक्षा दी जाय। कोई वृत्ति धारण करनेसे पूर्व युवक और युवतियों-को मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार चलनेसे यह ज्ञात होगा कि उन्हें उनके योग्य वृत्ति प्राप्त हो जाती है और असफ-लताके अवसर कम हो जाते हैं।

इन परीक्षाओंके सिद्धान्त

ये परीक्षाएँ इस सिद्धान्तपर अवलम्बित हैं कि बालककी स्वाभाविक बुद्धिका विकास सोलहवें वर्षतक होता है, उसके पश्चात् वह विकसित नहीं होती। कोई व्यक्ति उस अवस्थाके बाद भी स्कूल या कालेजमें ज्ञानोपार्जन भलेही कर ले,

किन्तु स्वाभाविक विकास तो रुक जाता है। अतः आयु-परिमाणको ही औसत स्वीकार किया गया है। दूसरी बात यह है कि उन लोगोंका लक्ष्य केवल उच्चतर मानसिक अवस्थाओंकी ही परीक्षा लेना है जैसे तर्क-बुद्धि तथा मौलिकता और वे गूढ़ विषयोंपर निर्णय देनेके लिये भी उत्तेजित करते ह। अन्तिम बात यह है कि बिने तो सर्वसाधारण बुद्धिकी परीक्षा लेना चाहता है, स्कूल-ज्ञान अथवा गृह-शिक्षाकी नहीं।

बुद्धिफल निकालनेका नियम

तीन वर्षसे लेकर १५ वर्ष तकके बालकोंके लिये परीक्षा-मालाएँ-निर्धारित की गई हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी होती है, मान लो कि एक बालक आठ वर्षका हो चुका है और वह उस वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया है, तो उस बालकमें आठ वर्षके बच्चेकी बुद्धि है। इस दशामें बुद्धिलब्धि (गुणय) १०० निश्चय किया गया है। किन्तु यदि वही बालक नौ अथवा दस वर्षकी अवस्था वालोंकी परीक्षामें सफल हो तो उसका शारीरिक वय आठ वर्षका होते हुए भी मानसिक वय नौ या दस वर्षका समझी जायगी। मानसिक वयको वास्तविक वयसे भाग देकर १०० से गुणा करनेसे बुद्धि-गुणय (बुद्धिलब्धि) प्राप्त हो जाता है। ठीक जैसे वास्तविक वयसे अधिक

मानसिक आयुवाले बालक होते हैं वैसे ही कम मानसिक आयुके भी बालक होते हैं। सहस्रोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर, मनोवैज्ञानिकोंने बच्चोंको निम्न-लिखित श्रेणियोंमें विभाजित किया है।

बुद्धिफल

१. १५० से ऊपर—देव-बुद्धि।
   १४० से ऊपर—प्रायः देवबुद्धि
२. १२०—१४० अत्यन्त उच्चबुद्धि
३. ११०—१२० उच्च बुद्धि
४. ९०—११० औसत बुद्धि
५. ८०—९० स्थूल बुद्धि
६. ७०—८० मन्द बुद्धिकी सीमापर
७. ७० से नीचे—निश्चित मन्दबुद्धि।

बुद्धि-गुण्यके शासक नियम

इस ओर की हुई खोजोंसे तीन तथ्य निश्चित रूपसे सम्मुख आते हैं। (१) मनुष्यकी स्वाभाविक बुद्धि प्राकृतिक होती है। चाहे शिक्षक लोग इस बातको स्वीकार न करें परन्तु यह सत्य है कि स्कूलकी शिक्षा स्वाभाविक बुद्धिकी उन्नतिमें सहायक नहीं होती। (२) अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति स्वाभाविक बुद्धि-लब्धिपर अवलम्बित है, यदि वह १२५ निकलता है तो अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति $\frac{१२५}{१००}$ $\frac{१२५}{१००}$ = १५६.२५ अर्थात् ड्योढ़ीसे ऊपर निकलेगी।

(३) बुद्धि-गुणय निश्चय करनेमें पैतृक गुणोंका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जड़ बुद्धि अथवा अल्प बुद्धिवाले मनुष्यों की संततिका बुद्धिगुणय कम ही रहता है।

श्रेष्ठतर बालकोंकी देख-रेख

परीक्षाओंसे यह प्रकट हुआ है कि बहुत कम व्यक्तियोंमें १८० तक बुद्धिगुणय होता है। जिनका बुद्धिगुणय १४० हो उनको केवल कुलका ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जातिका एक अमूल्य रत्न समझना चाहिए। यदि उनके स्वास्थ्याकी भली प्रकार देख-रेख हो और अपनी बुद्धिका विकास और ज्ञानोपार्जन करनेके लिए पूर्ण क्षेत्र दिया जाय तो वे जातिके विधायक, विचारोंके नेता तथा कला-कौशलके नायक हो सकते ह। पूर्ण क्षेत्रसे लाभ उठानेके लिये उन्हें उच्चतम शिक्षा देनी चाहिए। यदि उनका झोपड़ीमें जन्म हुआ तो देशके हितपर ध्यान देकर उन्हें संपूर्ण शिक्षा दी जाय। मेरी सम्मतिमें ऐसे बालकोंको सहायता दे कर बढ़ाना एक प्रकारकी जातीय सेवा ही है और फिर केवल इन परीक्षाओंसे निर्धारित उच्च अथवा अत्यन्त उच्च बुद्धिवाले बालकोंको ही विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पानेके लिए भेजना चाहिए।

नई परीक्षाएँ और व्यावसायिक निर्देश

ऊपर हमने बुद्धि परीक्षाके नये उपाकरणोंकी चर्चा की है किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्यकी सभी शक्तियाँ

समर्थताओं और गुणोंकी परीक्षाके लिये नये नये साधन और यन्त्र प्रस्तुत किए गए हैं और उन लोगोंने बुद्धि-परिधिके अनुसार व्यवसायों या वृत्तियोंका निम्नलिखित वर्गीकरण किया है :—

प्रथम श्रेणी—उच्चतर व्यावसायिक और प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य (बुद्धि लब्धि १५० से ऊपर)—वकील, वैद्य, प्राध्यापक, ग्रन्थ लेखक, सम्पादक, वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार, राजकीय-सेवाके लेखक (प्रथम श्रेणीका सिविल सर्विस क्लार्क), व्यवस्था-सञ्चालक, कम्पनीका मन्त्री, दलाल, सरकारी मुनीम, भवन-निर्माता, विश्लेषणात्मक रसायन-शास्त्री, व्यावसायिक शिल्पी (इन्जीनियर)।

द्वितीय श्रेणी—निम्न व्यावसायिक, यान्त्रिक तथा कार्य विभागी (बुद्धि-लब्धि १३०—१५०)

अध्यापक, राजकीय सेवाका लेखक (द्वितीय श्रेणी) मुनीम, मन्त्री, लेखक, दन्तवैद्य, पशु-चिकित्सक, सम्वाददाता, समाज-सेवक, यन्त्रशाला-व्यवस्थापक, भूमिमापक, व्यापारी, नीलाम करनेवाला, क्रेता, व्यावसायिक, यात्री, यन्त्र-शिल्पी, मानचित्रक (डिज़ाइनर)

तृतीय श्रेणी—लेखकीय तथा अति चातुर्यपूर्ण कार्य (बुद्धिलब्धि ११५—१३०)

स्वराटपलेखक, पत्रादि-रक्षक, कार्यालयके लेखक, थोक व्यापारी, सङ्गीतज्ञ, विशेष अध्यापक (व्यायाम, सङ्गीत या गार्हस्थ्यशास्त्रके), छोटे व्यापारी, बीमेके दलाल,

बिजलीका मिस्त्री, तार बाबू, औषधिविक्रेता, अस्पतालकी धाय, छापेघरके अक्षर-जुड़ैये, अक्षर या चित्र खोदनेवाले, लिथो छापनेवाले, यन्त्र-चित्रकार (फोटोग्राफर), रेखा-चित्रकार, यन्त्र बनानेवाले, यन्त्र-निरीक्षक, दुकानोंके सहायक, श्रमिकोंके मुखिया।

चतुर्थ श्रेणी—चातुर्यपूर्ण कार्य (बुद्धिलब्धि १००-११५)

दर्जी, टोपी बनानेवाले, गद्दे बनानेवाले, अञ्जन ट्राम और बस चलानेवाले, पुलिसवाले, टेलीफोन-चालक, मुद्रक, यान्त्रिक, आटा पीसनेवाले, बढ़ई, लोहार, राजगीर, किसान, दुकानमें सहायक, रोकड़िया, मल्ल, नल लगानेवाले. प्रसाधक, नियमित टप लेखक।

पञ्चम श्रेणी—अर्धचातुर्यपूर्ण आवृत्यात्मक कार्य, (बुद्धिलब्धि ८५-१००)

प्रति दिनका यान्त्रिक कार्य करनेवाले, साधारण व्यवसायी, नाई, टीन और ताँबेका काम करनेवाले, बटैयापर खेती करनेवाले, रङ्ग चमकानेवाले, खान और भट्ठीका काम करनेवाले, गाड़ी चलानेवाले, ईंट जोड़नेवाले, रङ्ग पोतनेवाले, रोटी पकानेवाले, रसोईदार, मोची, जुलाहा, धोबी, डाकिया, चौकीदार, नौकर, घरेलू नौकर।

षष्ठ श्रेणी—चातुर्य-हीन आवृत्यात्मक कार्य (बुद्धिलब्धि ७८-८५)

ढोने ले जाने तथा खोदने आदिके शारीरिक कार्य,

स्वयंचालित यन्त्रका कार्य, श्रमिक, बोझ ढोनेवाले, नाविक, मछुए, खेतीबारीमें सहायक, घुंघाला पोंछनेवाले, पुलिन्दा बाँधनेवाले, चिप्पी चिपकानेवाले, कुली, बोतल बन्द करनेवाले, हरकारे, अधोर्ध्वयान (लिफ्ट)-सञ्चालक, घरेलू नौकर (दरिद्र श्रेणी) तथा यन्त्रशालाके कामगार

सप्तम श्रेणी—आकस्मिक श्रमिक (बुद्धि लब्धि ५०-७०)
. दूसरेकी देख-रेखमें यान्त्रिक कार्य या अत्यन्त साधारण कार्य।

अष्टम श्रेणी—अतिसाधारण (बुद्धिलब्धि ५० से नीचे)
बेकार, निरर्थक (जड़, क्षीणबुद्धि और शक्तिहीन)

इन विभिन्न व्यवसायोंके लिये बिने, पिन्टर, पेटसन, ड्रेवर, कोलिन्स, पोर्टियस, मेज़, नौक्स क्यूब, उडस्वर्थ ऐन्ड वेल्स, हीली पिक्चर, डीयरबौर्न, कोह्ल, अलेक्जराडर, पसालौंग सूरीज, ओक्ले, हीली ऐन्ड फर्नाल्ड, केन्ट, शाको, फर्गु सन, नार्थम्बरलैंड, स्वीअरमैन, केटेल, रिचार्डसन् पीरी विलियम्स, गौडफ्रे टौम्सन्, जार्ज कौम्बे, टौमलिन्-सन्, टैरी टौमस, टर्मन, ओटिस, कुह्लमान्, ऐन्डर्सन, प्रेसी क्लासिफिकेशन्, कार्नेगी, ईलिनौइस हैगर्टी, मिलर, योवर, कोलम्बिया, थर्सटन् थौर्नडाइक, वर्ट, डेल और न जाने कितने सौ परीक्षाओंके नये साधन निकले हैं, जिनसे बालकोंकी बुद्धि, तर्कशक्ति, भाषा-योग्यता यान्त्रिक-योग्यता, रचना-योग्यता, शारीरिक योग्यता, सौन्दर्यबोध-समर्थता, मांस-पेशियोंकी शक्ति, सहन शक्ति,

व्यक्तिगत आकर्षण, वपुष्मत्ता, नेतृत्व-शक्ति, हास्य प्रियता, नैतिकता, भावुकता, लगन, स्फूर्ति, सचाई, उत्सुकता, आत्म-विश्वास आदि सब शक्तियों और गुणोंकी परीक्षा लेकर उसे उसकी शारीरिक, मानसिक तथा प्रवृत्यात्मक समर्थता-के अनुसार किसी वृत्ति या व्यवसायमें लगाते हैं। इन सब प्रणालियोंसे भली भाँति परीक्षित होनेपर बहुतसी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य-जीवनको निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। घरकी स्थिति, पिताकी अवस्था, आर्थिक दृष्टि, सहसा रोगग्रस्त हो जाना तथा सङ्गतिके कारण मनो-वृत्तिका सहसा किसी दूसरी ओर बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु फिर भी जो प्रयत्न हो रहे हैं वे स्तुत्य हैं इसमें सन्देह नहीं।

हमारे देशमें इन सभी प्रकारोंकी प्रयोगशालाएँ नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहाँ इतने व्यवसाय ही नहीं कि उनके लिये विभिन्न प्रकारके श्रेणी-विभाजन की व्यवस्था की जाय। अभी थोड़े दिनोंसे व्यवसायीकरण-का हल्ला प्रारम्भ हुआ है और कुछ विद्यालय भी खुले हैं जिनमें दिल्लीका बहु-शिल्प विद्यालय सरकारकी ओरसे खोला गया है।

बहुशिल्प विद्यालय दिल्ली

सन् १९३६-३७ में इँगलैंडके दो प्रधान शिक्षा-शास्त्री श्री ए० एबट और एस० एच० वुड भारत सरकारके निमन्त्रण

पर भारतमें व्यावसायिक शिक्षाकी संभावनाओंकी जाँच करने आए थे। उन्होंने जो सुझाव दिए उनके अनुसार दिल्लीमें एक प्रथम श्रेणीका बहुशिल्पविद्यालय (पोलीटेकनिक इन्स्टिट्यूट) खोला गया। इस विद्यालयके दो विभाग थे एक निम्न विभाग और दूसरा उच्च विभाग। निम्न विभागका शिक्षाक्रम तीन वर्षका है।

इस विद्यालयकी विशेषता यह है कि इसमें पुस्तक-ज्ञान तक ही शिक्षा परिमित नहीं है और रटनेको कड़ाईसे रोका जाता है। इसीलिये वहाँ पाठ्य-पुस्तकोंका अत्यन्त अभाव है मासके अन्तिम शनिवारको सब छात्र कोई न कोई मनोहर स्थान देखने निकल जाते हैं जहाँ वे कभी तो यन्त्रघरोंमें जाकर यन्त्रोंकी क्रिया देखते हैं, कभी पुराने ऐतिहासिक भवनोंकी बनावट और कारीगरीका अध्ययन करते हैं और कभी जाकर अन्य ऐसी ही बातोंका ब्यौरा ऐकत्र करते हैं।

यहाँके बच्चे समय समयपर अखिल भारतीय आकाश वाणी (ऑल इण्डिया रेडियो) पर जाकर कुछ गाते-बजाते, कहते-सुनते हैं अन्यथा वे निम्नलिखित किसी न किसी सुव्यसनमें समय लगाते हैं—फोटोग्राफी, ज्यौतिष, मानचित्र. गत्तेका काम, एकत्रीकरण (टिकट, सिक्के, चित्र आदि), भोजन बनाना, स्काउटिंग आदि। इनके अतिरिक्त नाटक, वादविवाद, संगीत-गोष्ठी आदिका भी आयोजन होता रहता है। बच्चोंके लिये आकाशवाणीपर जो कार्यक्रम चलता है उसे सुननेके लिये रेडियो लगा हुआ है और

चित्रप्रदर्शक यन्त्रके साथ व्याख्यान आदिका प्रबन्ध भी होता रहता है। इनके साथ साथ शारीरिक व्यायाम और खेलकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें प्रत्येक छात्रको विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार भरीपूरी प्रयोगशालाएँ हैं और यन्त्रशालाओंमें काम करनेके लिये भी प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घंटे जाना ही पड़ता है।

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी संध्याको शिल्प-कला सिखानेके लिये प्रबन्ध किया गया है।

भारतकी वर्तमान आर्थिक स्थितिको देखते हुए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके विद्यालय भारतके प्रत्येक जिलेम खोले जायं क्योंकि व्यवसायोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके साथ साथ शिक्षित शिल्पियोंकी बड़ी आवश्यकता पड़ रही है और यदि इस प्रकारके विद्यालय स्थान स्थानपर खोल दिए जायँगे तो स्थानीय व्यवसायियोंको भी नये व्यवसाय प्रारंभ करनेकी प्रेरणा मिलेगी और उन्हें यह भी विश्वास रहेगा कि यदि कोई यान्त्रिक व्यवसाय प्रारंभ कर दिया जाय तो यन्त्र मँगाने या ठीक करानेकी सहायता इन शिल्प-विद्यालयों से मिलती रहेगी। उन्हें यह भी संतोष रहेगा कि हमें निरन्तर समय समयपर कुशल शिल्पी इन विद्यालयोंसे मिलते रहेंगे। इन विद्यालयोंसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि

यहाँके शिक्षित शिल्पी स्वयं अपने व्यवसाय खड़े कर लेंगे, और बेकारोंकी संख्या घटने लगेगी। फिर यहाँ भी व्यावसायिक निर्देशके लिये प्रयोगशालाएँ खोलना आवश्यक हो जायगा।

—oo*oo—

हमारी भावी शिक्षा-योजना

अपने देशकी शिक्षाकी व्यवस्था करनेसे पूर्व हमें अपनी आवश्यकताएँ देखनी चाहिएँ और उनकी पूर्त्तिके लिये शिक्षाकी योजना बनानी चाहिए। हमारी इतनी आवश्यकताएँ हैं—

१—चरित्रबल।

२—अर्थबल।

३—शरीरबल।

४—बुद्धिबल।

५—संस्कारबल।

इन पाँचों बलोंके बिना हमारे देशके मानवोंकी व्यक्तिगत या सामूहिक उन्नति असम्भव है। अतः हमें इनके लिये निम्नलिखित सिद्धान्त स्थिर करने चाहिएँ—

१—स्वस्थ स्थानमें विद्यालय हों।

२—छात्र और अध्यापक पारिवारिक जीवन व्यतीत करें।

३—कन्याओं और कुमारोंकी शिक्षा भिन्न प्रकारकी हो और भिन्न विद्यालयोंमें हों।

४—शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य हो।

५—चरित्रबलकी शिक्षा उदाहरण तथा कौटुम्बिक जीवन

द्वारा. अर्थबलकी शिक्षा व्यावसायिक ज्ञान-द्वारा, शरीर-बलकी शिक्षा व्यायाम-द्वारा, बुद्धिबलके लिये भाषा, साहित्य, नीति, गणित, इतिहास विज्ञान आदि तथा संस्कार-बलके लिये संगीत, चित्रकला आदिकी शिक्षाकी व्यवस्था होनी चाहिए।

यह तभी सम्भव है जब कई ग्रामोंके बीच एक मंडल-विद्यालय हो और एकाध्यापक प्रणाली या शिष्याध्यापक प्रणालीसे पढ़ानेकी व्यवस्था हो। डा० बेलने इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें बड़ी सफलता पाई है। इस मंडल-विद्यालयको अन्न-वस्त्र देनेका भार उस मंडलके ग्रामोंपर हो और वे अपनी उपजका तथा अपने व्यावसायिक लाभका दशम अंश इस विद्यालयके लिये निकाल दें। इस मंडल-विद्यालयके पास इतनी गौएँ और इतनी भूमि हो कि पर्याप्त दूध और तरकारी छात्रोंको मिल सके। यहाँके छात्र सब काम स्वयं करें और प्रबन्ध भी सब उन्हींके हाथों हो। अपनी कुटिया तथा विद्यालय आदि सब वे स्वयं बनावें। सब छात्रोंके लिये एक ही कार्यक्रम न हो। सबको एक ही डंडेसे नहीं हाँकना चाहिए। आजकल जो वर्धा-शिक्षायोजनाके आधारपर विभिन्न नामोंसे योजनाएँ चलाई जा रही हैं वे अत्यन्त अस्वाभाविक हैं क्योंकि वे बलपूर्वक उन बालकोंको भी उन विषयोंमें अधिक समय देनेको बाध्य करती हैं जिन्हें उसमें रुचि नहीं है। अनिवार्य विषयोंमें केवल भाषा और साधारण गणित ही आवश्यक है, शेषमेंसे छात्रोंको स्वतन्त्रता देनी

चाहिए कि वे जितने चाहें और जो चाहें ले लें। इसी प्रकार जो विद्यार्थी हस्तकौशल नहीं सीखना चाहता उसे विद्यालयका और दूसरा काम देना चाहिए जिसमें उसे रुचि हो और जिसके लिये उसे शारीरिक श्रम करना पड़े क्योंकि उद्देश्य तो यही है कि छात्र सुस्त न बैठे. शारीरिक परिश्रमका अभ्यास करे और उसका महत्त्व समझे। विद्यालयकी शिक्षावधिके अन्तमें छात्र निकले तो वह सच्चा, निर्भय, सुगठित शरीरवाला, सदाचारी, शिष्ट, व्यवहार-कुशल और कोई शुद्ध व्यवसाय करके जीविका कमा सकनेवाला होकर निकले जिससे व्यक्ति, परिवार, नगर, देश, और समाजका हित हो, अहित कभी न हो और बालक अपने मनकी बात कुशलतासे व्यक्त करने योग्य हो।

इस दृष्टिसे मंडल-विद्यालयका कार्यक्रम इस प्रकार हो—

प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठकर सब शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर गौओंको सानी-पानी देकर प्राणायाम और व्यायाम करें। इसके पश्चात् धारोष्ण गोदुग्ध पीवें। फिर सम्मिलित प्रार्थना करके भाषा, गणित तथा विज्ञानका अध्ययन करें। तत्पश्चात् भोजन बनाकर परोसकर सब भोजन करें। भोजनके पश्चात् एक घंटे विश्राम तथा वस्त्र-प्रक्षालनादि हो, फिर दो घंटे तक पढ़े हुए पाठपर परस्पर विचार और अध्ययन हो तथा छात्र जाकर पुस्तकालयका प्रयोग करें। तत्पश्चात् अपनी-अपनी रुचिके अनुसार एक-एक घंटे हस्तकौशल, संगीत, चित्र,

मूर्त्तिकला आदिका अभ्यास करें। सूर्यास्तसे दो घंटे पहलेसे खेती बारी, फुलवारी, आदिकी देख-रेख, विद्यालयकी स्वच्छता आदिका काम तथा गौओंको सानी पानी देकर सूर्यास्तके पश्चात् सब छात्र एकत्र होकर प्रार्थना करें और वहीं सबको समान रूपसे एक घंटेतक इतिहास, पुराण, सामाजिक-जीवन, नागरिक-शास्त्र, सदाचार आदिपर कथा, व्याख्यान आदि सुनाए जायँ और चित्र आदि दिखाए जायँ। तदनन्तर सब सो जायँ।

इस मण्डल-विद्यालयमें परस्पर एक दूसरेकी सेवा और सहयोगसे तथा वहाँ सब प्रकार काम करनेसे चरित्रबल, सदाचार, सचाई, शिष्टता, व्यवहार-कुशलता और नैतिकताकी स्वाभाविक शिक्षा मिलती रहेगी। खुले जंगलके वातावरणसे स्फूर्ति तथा स्वस्थता मिलेगी और व्यायाम तथा पर्यटनसे छात्रोंका शरीर भी खुलेगा। विभिन्न पर्वों और उत्सवों या महापुरुषोंकी जयन्तियाँ मनाकर तथा उनका गुणगान करके उदात्त वृत्तियोंका विकास होगा और सत्कार्यमें प्रवृत्ति बढ़ेगी।

इस विद्यालयकी शिक्षा-प्रणाली भी यह हो कि एक प्रधान गुरु हो जो सर्वस्वीकृत सर्वविद्याविचक्षण तेजस्वी प्रतिभाशाली विद्वान हो जो ऊपरकी कक्षाको पढ़ावे, शेष सब कक्षाओंको क्रमशः ऊपरके छात्र ही पढ़ाते चलें। इससे विनय, शील और परस्पर आदर तथा सम्मानकी भावना बढ़ेगी।

कन्याओंका पाठ्यक्रम

जैसे पुरुषोंके लिये अलग विद्यालयकी आवश्यकता है वैसे ही कन्याओंके लिये भी है किन्तु उनकी शिक्षा-योजना भिन्न होनी चाहिए। वे समाजकी माता होती हैं अतः उन्हें सफल मातृत्वकी शिक्षा देनी चाहिए और इसी मातृत्व पदके साथ उनका गृहिणी पद लगा हुआ है। उनकी शिक्षा व्यक्तिगत न होकर ऐसी हो कि वे जिस परिवारमें पहुँचे उसे, सुखी, स्वस्थ, सद्वृत्त, शिष्ट और सुन्दर बना दे । इसी उद्देश्यसे अखिल भारतीय महिला महासभाने दिल्लीमें लेडी इरविन कौलेजकी स्थापना की है किन्तु उनके उद्देश्य और उनकी शिक्षामें आकाश-पातालका अन्तर हो गया है।

लेडी इरविन कालेज, नई दिल्ली

वहाँकी नियमावलीमें लिखा है—

"भारतकी युवतियोंके लिये लेडी इरविन कौलेज ही ऐसी प्रथम संस्था है जिसने भारतीय परिस्थितिके अनुकूल गार्हस्थ्य-शास्त्रकी वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी है।

अखिलभारतीय महिला-सम्मेलनके निर्णयके अनुसार इस संस्थाका श्रीगणेश किया गया और पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया गया कि महिलाओंको ऐसी शिक्षा और सुविधाएँ प्रदान की जायँ कि वे—

(अ) योग्य पत्नी, योग्य माता और समाजकी उपयोगी सदस्या बन सके।

(आ) कन्या पाठशालाओंमें जाकर गार्हस्थ्य-शास्त्रकी योग्य अध्यापिका बन सके।

इस विद्यालयके दो विभाग हैं—गृह-विज्ञान और अध्यापन-शिक्षा। गृहविज्ञानका शिक्षाक्रम दो वर्षका है और उसके आगे एक वर्षतक अध्यापन-कलाकी शिक्षा दी जाती है। किन्तु यह पिछला अध्यापन कलाका शिक्षाक्रम ऐच्छिक है। इस विद्यालयमें १८०) प्रति वर्ष तो शुल्क देना पड़ता है और छात्रावासका व्यय भी लगभग ७५,मासिक पड़ता है। हमारे दीन देशकी कन्याएँ अपने घर रहकर अपनी माताओंसे जितना गृहविज्ञान सीख लेती हैं उसके आंशिक तथा आडम्बरपूर्ण परिचय मात्रके लिये उसे यहाँ इतना व्यय करना पड़ता है। और विशेषता तो यह है कि यह विद्यालय चलाया गया है अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनकी प्रेरणासे।

इस विद्यालयके गृह-विज्ञान शिक्षा-क्रममें निम्नलिखित विषय सिखाए जाते हैं—

१—रसोईका काम—जिसमें चटनी, आचार, मुरब्बा, पनीर आदि बनाना तथा पश्चिमी और भारतीय सलाद बनाना भी है। इसमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ढंगके भोजनालयोंके कामकी शिक्षा दी जाती है।

२—भोजन-शास्त्रका ज्ञान।

३—गृहस्थीकी सँभाल, जिसमें हिसाब-किताब आदि भी है।

४, साधारण जीवाणु तथा कीट-शास्त्र जिसमें अनेक प्रकारके कीड़ों और जीवोंका वैज्ञानिक विवेचन और इतिहास पढ़ाया जाता है।

इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य, कपड़े धोना और इँगना, सिलाई बुनाई-कढ़ाईका सब प्रकारका काम सिखाया जाता है। और इन सबपर वैज्ञानिक पुट देनेके लिये कुछ भौतिक और रसायन शास्त्र भी सिखाया जाता है।

अध्यापन कलाके अन्तर्गत तो ये ही सब बातें हैं—शिक्षाके सिद्धान्त, स्वास्थ्य-विज्ञान, अध्यापन कला तथा सूईका काम।

इस सब पाठ्यक्रममें कुछ विषय अनावश्यक और अधिक रक्खे गए हैं। जब भारतीय परिस्थितिके अनुकूल शिक्षा देना इसका उद्देश्य है तो इसमें विदेशी भोजनालयकी प्रथाका शिक्षण क्यों किया जाता है। इसमें ६००) के बिजली के चूल्हे हैं जिनपर ये भारतकी भावी पत्नियाँ और माताएँ रोटी सेंकना सीखती हैं और कपड़े धोनेके यन्त्र भी कम मूल्यवान नहीं है। इसके अतिरिक्त कीटाणुओंके इतिहास और भौतिक तथा रसायन-शास्त्रके अध्ययनका निरर्थक पचड़ा बढ़ाकर पाठ्यक्रमको दुरूह करनेका अर्थ क्या है! बड़े आश्चर्यकी बात है कि भारतकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति की दृष्टिसे अत्यन्त प्रतिकूल शिक्षा देनेवाली यह संस्था भारतकी राजधानीमें पोषित क्यों की जा रही है।

अतः यह आवश्यक है कि कन्याओंकी शिक्षा ऐसी हो जिसमें सांस्कृतिक, उपयोगी हस्तकौशलपूर्ण, मनोविनोदात्मक तथा व्यावहारिक विषयोंका समावेश हो।

इस दृष्टिसे कन्याओंका पूर्ण पाठ्यक्रम इस प्रकारका होना चाहिए—

सांस्कृतिक विषय—भाषा (मातृभाषाका पूर्ण ज्ञान तथा संस्कृतका साधारण।)
चित्रकला (मनुष्य और प्रकृतिका चित्रण तथा धार्मिक चित्र)
संगीत (भजन, कीर्त्तन (वाद्य तथा शास्त्रीय संगीतका ज्ञान ऐच्छिक हो।)
इतिहास (पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोंकी कथाएँ।)

उपयोगी—स्वास्थ्यकी मोटी-मोटी बातें और घरलू चिकित्सा (सबको स्वच्छ और स्वस्थ रखना), भोजन बनाना (नित्य भोजनके अतिरिक्त अन्य खाद्य, पेय, लेह्य चोष्य पदार्थ बनाना), घरकी व्यवस्था (कपड़े लत्ते, वर्तन-भाँड़े, अन्नादि, आभूषण तथा अन्य सामग्रीकी देख-रेख और घरकी सफाई), शिशुपालन (बच्चेका भोजन, रक्षण, पालन रोग-निवारण आदि), साधारण गणित (घरके आय-व्ययका लेखा आदि)

हस्तकौशल—घरकी सजावट।

फूल गूँथनेकी कला।

सीना, पिरोना, बुनना, काढ़ना।

रँगना, धोना

ओटना, धुनना, कातना, बुनना।

फुलवारी लगाना

मनोविनोदात्मक—कहानी सुनाना

घरेलू खेल

घरेलू उत्सव

गीत, वाद्य और नृत्य

व्यावहारिक—सहनशीलता

बैंक और डाकका काम

अतिथि-सत्कार।

यात्राके नियम जानना और उसकी व्यवस्था करना सबसे सद्व्यवहार और मधुरभाषिता।

इतनी और इस प्रकारकी शिक्षा हमारी कन्याओंको मिल जाय तो हमारे घरोंसे देवताओंको भी ईर्ष्या होने लगेगी और हमारा देश इन्द्रलोकको भी लज्जित करने लगेगा।

—०००—

आनन्द प्रेस, आदि विश्वेश्वर, चौक बनारस।